ओ३म्

# ईश्वरीय आदेश

समानी प्रपा सहवोन्नभागः समाने योक्ते सहवो युनज्मि
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ॥

तेषां श्रीमयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतं समाः ॥

हे मनुष्यो! तुम सब का जलस्थान समान हो और तुम सब अन्न को परस्पर समान बांट चूंट कर लो। मैं तुम को एक ही कौटुम्बिक बन्धन में बाँधता हूँ, इस लिये जैसे रथचक्र के सब ओर से एक ही नाभि में लगे हुए आरे काम करते हैं वैसे ही तुम सब मिल कर समाज हित कर्म को करो। जो जीव मन वाणी से इस प्रकार की समानता के पक्षपाती हैं, उन्हीं के लिये मैंने इस लोक में सौ वर्ष तक समस्त ऐश्वर्यों को दिया है।

# समर्पण
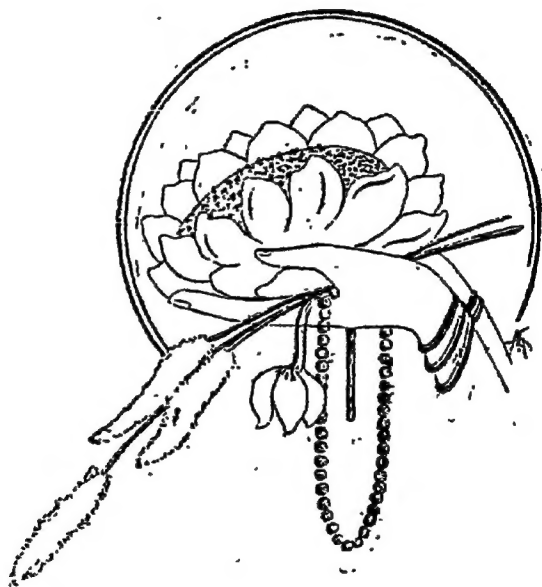
नंगे भूखे भारतीयों के
कर्कश करों में

# जगन्नियन्ता से !

हे ईश ! भारत के तरुण मन में सदा यह चाह हो।
सत, साम्य, प्रेम प्रसार परहित में अमर उत्साह हो ॥
विश्वहित ऋषि-सुत विहँस कर आज निज बलिदान दें।
पर-पीड़ितों के त्राणहित अपनो न कुछ परवाह हो ॥
कर्त्तव्य-पथ पर बढ़ अभय उत्सग कर दें प्राण निज।
उनके हृदय में अक्षय साहस शक्ति त्याग अथाह हो ॥
वे रहें सेवा निरत विचलित न हो प्रतिरोध से।
शीश की हो मांग चाहे कठिन कारागार हो।
दूर हो सब दासता, वैषम्य, सीमित भेद-भाव।
हे देव ! इनके दलनहित उर में अगर उच्छ्राह हो ॥
विश्व हों फिर हे विधाता ! पूर्वसा परिवार एक।
हो परस्पर प्रीति सब में दम्भ लोभ न डाह हो ॥
शुष्ण-असुर श्रमिकों के शोषक हों न शासक अब यहाँ।
दलित अवला, क्षुधित-नर कंकाल की न कराह हो ॥
हो सभी श्रमकार बन्धन-मुक्त क्रान्ति कृपाण ले।
आज चहुँ स्वातन्त्र्य, समता, यम-नियम की छाँह हो ॥
हे ईश ! उर-अरमान बस हो साम्यवादी फिर जगत।
स्वार्थ, संग्रह, स्तेय, असुर, अन्याय का अब दाह हो ॥
बल हो प्रभु तव, सत्य साधन औ अहिंसा-अस्त्र हो।
पर दुर्गुणों के नाशहित शुचि प्रेममय मम राह हो ॥

---

❀ ॐ ❀

# भूमिका

स्वामी सदानन्द जी ने एक पुस्तक लिखते हुए मुझे भी कुछ शब्द लिखने को कहा, उस पुस्तक का नाम है 'वेद और साम्यवाद' मैंने उसका कुछ भाग सुना है। इस समय जगत् में साम्यवाद की विशेष चर्चा है। मैं इस विषय से अनभिज्ञ सा हूँ, क्योंकि जहाँ यह विषय वर्तमान रूपमें नूतन है वहाँ इस पर पुस्तकें भी अधिक नहीं हैं, जो हैं वह भी इधर उधर की बातें अधिक बताती हैं। इस विषय में जो मेरे विचार हैं उनको यदि सूत्र रूप में लिखना हो तो मैं यह लिखूँगा कि प्रत्येक व्यक्ति को काम मिलना चाहिये और उसे भोजन छादनादि से निश्चितता हो। इस समय भारतवर्ष में यही नहीं है इसलिये अशान्ति होना स्वाभाविक है।

कुछ मनुष्य तो वह हैं जो काम करना नहीं चाहते और साथ ही वह व्यसनी भी हैं, यदि व्यसनी नहीं हैं तो आलस्य का रूप तो है ही। उनके लिये अधिक सोचने की बात नहीं है, परन्तु जो काम करना चाहते हैं, यदि उनको काम न मिले उसका उपाय राजा और समाज को अवश्य करना होगा। काम करने वालों को इस समय जो कठिनाई है वह निम्न घटना से स्पष्ट हो जायगी।

जिस समय मैं लाहौर गुरुदत्त भवन में था तब दयानन्द उपदेशक विद्यालय का महानस (भोजनालय) बन रहा था। उस समय एक आदमी लाला सोहनलाल जी ठेकेदार के पास आया और प्रार्थना की कि मुझे मज़दूरों में लगा लें, मुझे आपके पास अमुक सज्जन ने भेजा है। उसने कहा मेरे पास मज़दूर पूरे हैं इसलिये मैं लगा नहीं सकता। मैंने यह सुन कर उससे पूछा आप कहाँ के रहने वाले हैं उसने कहा "मैं पटियाला राज्य का रहने वाला हूं, लाहौर में मज़दूरी के लिये आया था। दो चार दिन काम मिला अब कई दिनों से खाली हूँ, कोई काम ही नहीं मिलता है।

अब पाठक विचार करें जब मज़दूरी न मिलती हो तो और काम की क्या कथा। दूसरे देशों में मज़दूर को काम न मिलने पर सरकार कुछ राशि देती है, यहाँ वह भी नहीं है। इसलिये भारत में यह होना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को काम दिया जाय और उसे भोजनादि अवश्य मिले।

वेद में वा आर्य साहित्य में इसकी व्यवस्था वर्णाश्रम धर्म से की गई है। विद्याध्ययन का समय ब्रह्मचर्य फिर गृहस्थ पुनः वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में हैं। इनमें अन्त के दो जनता के कार्य करने वाले हैं। परन्तु इस समय यह व्यवस्था बिगड़ी हुई है। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र गृहस्थ के अवांतर भेद हैं इनमें यह ध्यान करने की बात है कोई बड़ा नहीं है। यदि कल्पना करनी ही हो कि कौन बड़ा है, तो शूद्र को बड़ा मानना होगा क्योंकि उसमें शारीरिक बल है। बुद्धि अधिक न होने से वह शारीरिक काम करता है। ब्राह्मण में बुद्धि भी है और शरीर भी है वह शारीरिक परिश्रम के लिये उद्यत नहीं होता। इसलिये यह छोटा है। क्योंकि साधन न होने से उपायोग में न लाना और साधन युक्त होकर उपयोग में लाना दोनों में अन्तिम से छोटा होना चाहिये।

श्री स्वामी सदानन्द जी ने भारत में पंजाबादि कई प्रांतों में काम किया है। वे ब्रह्मा में, स्याम में, मलाया में समय लगा चुके हैं। हिन्दी उनकी मातृ-भाषा है। वह गद्य-पद्य, हिन्दी के लेखक हैं। इसलिये मैं हिन्दी प्रेमियों से सानुरोध प्रार्थना करता हूँ कि वह उनकी कृति को अवश्य पढ़ें और उनके विचारों को देखें। इससे पाठकों को विशेष लाभ होने की संभावना है।

अमृतसर — स्वतन्त्रानन्द

१८–४–३८ — उपप्रधान– सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधिसभा, देहली

# अपनी बात

मैं वेद का विद्वान् नहीं और न साम्यवाद का मर्मज्ञ ही। मैं तो देश-विदेश में रहने वाले नंगे-भूखे भारतीयों के बीच में घूमने वाला एक साधारण परिव्राजक हूँ। संन्यासी होने के नाते सभी श्रेणियों के व्यक्ति मेरे सम्पर्क में आते रहते हैं। इससे जहां मुझे पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और साम्प्रदायवाद का लूट, षड्यन्त्र और पापाचार देखने को मिलता है, वहाँ बुभुक्षित श्रमकारों का हृदय विदारक चीत्कार भी सुनाई देता है। जिसके फलस्वरूप मेरी लेखनी चंचल हो उठी। जब पिछले दिनों आर्यसमाज पेशावर सदर के जलसे से लौटा तो कुछ मित्रों के अनुरोध करने पर अपने विचारों को प्रकाशनार्थ, पुस्तक का रूप दिया।

इसका अभिप्राय साम्यवाद को साम्प्रदायिक बनाना नहीं बल्कि साम्प्रदायिकों की कूट नीति का भण्डा फोड़ करना है। साथ ही वर्तमान साम्यवादियों को भी बतलाना है कि साम्यवाद का मूल आधार नैतिकता है और अध्यात्मिकता के अभाव में इसका स्थायित्व असम्भव है। साम्यवाद का स्थायी स्थापना के लिये भौतिक आराधना ही पर्य्याप्त नहीं प्रत्युत भौतिकता और अध्यात्मिकता का सामञ्जस्य होना अनिवार्य है। पर मैं देखता हूँ कि आज साम्यवादी और अध्यात्मवादी दोनों ही दो दिशा में परस्पर घृणा करते हुए ऐकांकी सरपट भाग रहे हैं। यह अन्धानुकरण एक ऐतिहासिक भूल है, जिसे साम्यवादी भी दोहरा रहे हैं। मेरी राय में भारतीय साम्यवाद का स्वरूप इस ढङ्ग से बनना चाहिये कि जिसमें इन दोनों का समन्वय हो। पाश्चात्य साम्यवाद की इस अपूर्णता को भारतीय साम्यवाद ही पूरा कर सकता है। आज से कुछ दिन पूर्व आर्यसमाज से कुछ आशा थी, परन्तु आज तो इसके अधिकतर प्रचारक और अधिकारी समानता अर्थात् साम्यवाद के कट्टर विरोधी हैं।

साम्यवाद से मेरा मतलब समाजवाद है—सामाजवाद या

एक रूपता नहीं। परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से एकरूपता भी असंम्भव नहीं। वैदिक सिद्धान्तानुसार यही तो जीवात्मा का अंतिम आदर्श है। संसार में वैषम्य उत्पन्न होने का कारण परि-स्थियों का प्रभाव है। ज्यों २ परिस्थितियों को हम बदलते जायेंगे, त्यों २ विश्व से वैषम्य मिटता जायगा। यह ठीक है कि वर्तमान दृष्टिकोण से हम सारी स्थितियों को पलटने में अपने को असमर्थ पाते हैं। परन्तु मैं पूछता हूँ कि जब एक हालात बदल सकता है तो दूसरा क्यों नहीं? यथा—शिक्षा, चिकित्सा और न्याय आदि सम्बन्धी वैषम्य स्थिति बदल कर साम्य-स्थिति सब को प्रदान कर सकते हैं तो अन्य क्यों नहीं? इस प्रकार एक दृष्टि से साम्यवाद का अर्थ समानवाद किया जाय तो भी उसकी सम्भावना सत्य हो सकती है, पर वैषम्य के लिए तो कोई स्थान ही नहीं। फिर भी मैं कह देना चाहता हूँ साम्यवाद से मतलब समाजवाद ही है—एकरूपता नहीं। यह तो उसका आगामी आदर्श है।

शीघ्रता और संक्षेप के कारण यदि कोई विषय अस्पष्ट रह गया हो तो विद्वानों से अनुरोध है कि वे सूचित करने का कष्ट उठायेंगे। मेरे विचार कहां तक ठीक है इसका निर्णय पाठकों पर ही छोड़, प्रेस और प्रकाशन सम्बन्धी अनभिज्ञता के कारण इस संस्करण को उतना सुन्दर और सस्ता नहीं बना सका—जैसा कि मैं चाहता था—इसलिये पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

अन्त में मैं पूज्यपाद श्री स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी का बड़ा ही आभारी हूँ जिन्होंने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर इस पुस्तक की भूमिका लिखने की कृपा की। साथही माननीय डा० रमाशङ्कर जी मिश्र, साहित्यरत्न तथा श्री भूपालसिंह जी शास्त्री का भी बड़ा ही ऋणी हूँ, जिन्होंने मुझे इस विषय में पर्याप्त सहायता प्रदान किया। पुनः त्रुटियों के लिये क्षमाप्रार्थी हूं।

—लेखक

"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति"

## विषय निर्देशिका

# वेद और साम्यवाद

## साम्यवाद क्यों ?

"प्रथम सम्पत्ति का विषम विभाग अर्थात् एक मनुष्य समाज का दूसरे मनुष्य समाज द्वारा लूटा जाना। द्वितीय सैनिक वर्ग के लोगों का होना, जिनकी शिक्षा और नियुक्ति मनुष्यों का वध करने के लिये होती है। तृतीय ग़लत और धोखे में डालने वाली साम्प्रदायिक-शिक्षा का होना, जो इस समय हमारे नवयुवकों को दी जाती है।"

यह उग्र पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का पाप है जो साम्यवाद के आवाहन् का प्रधान कारण है।

—महात्मा टालस्टाय

### प्रथम अध्याय

# साम्यवादी क्रान्ति का आगमन क्यों ?

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषद्व प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥

ऋग्वेद ७।१०४।२२

मनुष्य समाज में गरुड़ के समान चाल चलन अर्थात् गर्व अहंकार और घमण्ड आदि का उद्भव, गीध के समान लोभ और परस्पर लूट खसोट कर दूसरे के रक्तमांस से स्वयं पुष्ट होने की इच्छा, पक्षियों की तरह पशु-ताड़ना की तृप्तिहित अत्यन्त उन्मत्तता, कुत्ते के समान रहन सहन अर्थात् आपस में लड़ना-झगड़ना, टुकड़े के लोभ में अपने ही भाइयों का सर्वनाश और पराये के आगे पूँछ डुलाना, उल्लू के समान अन्धकारप्रिय अर्थात् मूर्खता का प्रसार तथा भेड़ियों की तरह क्रूरता का उत्पन्न होना ही साम्यवादी क्रान्ति के आगमन का प्रधान कारण है। जिसका उद्देश्य संसार से घृणा, अहंकार, लोभ, व्यभिचार, संघर्ष और ईर्षाद्वेष तथा अज्ञानता और क्रूरता को दृढ़ता पूर्वक दलन करना है। अर्थात् काम, क्रोध लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छः मनोविकारों को दूर एवं नष्ट कर सर्वव्यापी सुख शान्ति की स्थापना करना।

क्रान्ति— का सीधा-साधा अर्थ उथल-पुथल है। वैज्ञानिक-जगत् में इसे संक्रमण कहते हैं और दार्शनिक-दुनिया में परिवर्तन! यही राजनैतिक और सामाजिक-क्षेत्रों में विप्लव व क्रान्ति के नाम से सुपरिचित है। परन्तु सब के मूल में एक ही भाव-तत्व विद्यमान है अर्थात् उलट-पलट, रद्दो-बदल।

यह नैसर्गिक-नियमानुकूल सृष्टि के कण कण में सर्वदा विविध रूप धारण कर विद्यमान रहती है। किन्तु प्रत्येक प्राणी से सीधा सम्बन्ध न होने के कारण तथा सब को ग्रहण-शक्ति से सूक्ष्म एवं परे होने के कारण सब को सदा प्रभावित नहीं कर पाती। इसी से नित्यप्रति इस संसार में होने वाले परिवर्तन और क्रान्तियों का हमें बहुधा भान भी नहीं हो पाता। बहुत बार तो हम देख सुनकर भी नहीं समझ पाते और अनेक हमारे दिनचर्या के स्वभाविक अङ्ग से बन गये हैं। जिनसे उनका हमारे ऊपर कोई असर नहीं होता। जन्म-मरण, दिन-रात, बाल्य, किशोर, यौवन आदि अवस्थाएँ इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं।

विश्व परिवर्तन एवं क्रान्ति चक्र पर लट्टू की तरह नाच रहा है— काल-चक्र के इस हेर-फेर से ही सृष्टि का संचालन और नव-निर्माण होता है। जिसका प्रभाव एवं कार्य सर्वत्र पिण्ड और ब्रह्मांड में समान रूप से व्यापक है। हाँ, देश, काल, अवस्था और पात्र भेद से क्रान्ति के स्वरूप में परिवर्तन अवश्य होता रहता है, पर, मूलतत्व स्पिरिट और कार्य में कोई फेर नहीं।

क्रान्ति का मूल कारण:—एक वाक्य में प्रकृतिक नियम के प्रतिकूल जीवन और व्यवस्था के प्रति असंतोष की उत्पत्ति ही है, वह व्यक्तिगत हो या सामाजिक, धार्मिक हो या राजनैतिक। विश्व में जब कभी भी प्राणी-जगत ज्ञात अथवा अज्ञात कारणवश परिस्थितियों के प्रभाव से वासना एवं लोलुपता के वशीभूत हो ईश्वरीय आज्ञा एवं नैसर्गिक नियमों के विपरीत अपनी स्वार्थ-साधना में लीन हो जाता है, उसी समय असंतोष

का उद्भव होता है। वह क्रमशः कृत्रिमता की वृद्धि के साथ बढ़ते बढ़ते विकृति की चरम सीमा पर पहुँच कर विद्रोह का रूप धारण कर लेता है। फिर चारों तरफ़, क्षणमात्र में ही क्रान्ति की भयङ्कर अग्नि धू धू कर घधकने लगती है। यह अवस्था केवल चेतन जगत में ही नहीं जड़ जगत में भी उपस्थित होती रहती है। हम उसका अनुभव न कर सकें— यह दूसरी बात है।

मानव शरीर को ही ले लीजिये। एक बार आपने प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन किया, संयम का बाँध टूटा, वासनाएँ और लालसाएँ पर फैलाकर उड़ीं, असंतोष की आग भड़की और आप कामकर्दम में कीट की भाँति बिलबिलाने लगे। शरीर साम्राज्य में उथल-पथल मच गई, आप दोषी ठहराये गये! प्रकृति ने आपको रोगी बनाकर दण्डित किया। भुक्तभोगी भर्तृहरि ने इसी बात को 'भोगे रोगभयम्' कह कर दोहरा दिया है।

शरीर में क्रान्ति मची है। प्रकृति अस्वाभाविक तत्वों को छाँट छाँट कर बाहर करने लगी। चिकित्सक औषधि और चीड़-फाड़ द्वारा दूषित तत्वों को दूर करने लगा। इस क्रांति के पश्चात् कहीं आप भले चंगे हुए। लोगों ने नवजीवन प्राप्ति पर बधाइयाँ दीं। पर यह नया जीवन है या पुराना?

यही दशा हमारे धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों की भी है। जब हम मानवी-दुर्बलतावश प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से नैसर्गिक नियमों की अवहेलना कर कृत्रिमता के मोह-पाश में फंस जाते हैं, तब हमारे व्यक्तिगत एवं समष्टिगत जीवन के विभिन्न भागों में क्षोभ का उत्पन्न होना अनिवार्य हो जाता है। जिसका अपरिहार्य परिणाम क्रान्ति और विद्रोह है। यह प्रकृति का अटल नियम है। सदा से होता आरहा है और सदा होता रहेगा। प्रकृति की प्रतिकूलता ही क्रान्ति की जननी है।

क्रान्ति के विरोधी—दासता की दुर्बलताएँ, वासना की ज्वालाएँ मानव-समाज में स्वार्थ की भावनाओं का सूत्रपात करती है। स्वार्थ की लहर ने हृदय को अभिभूत किया और मनुष्य के अन्दर अहंमन्यता के भाव का उदय हुआ। 'मैं हूँ, की कुत्सित भावना ने अपनी इच्छापूर्ति के लिये दूसरों का हक़ हड़प करना शुरू किया। अपने क्षणिक सुख के लिये दूसरों का जीवन बरबाद करने में अपने को चतुर समझने लगा। मदान्धता के वशीभूत हो आत्मिक पुकार को भूल गया। बस! यही व्यक्तिवाद का विकृत रूप है। इस वैयक्तिक रुचि से बढ़ कर समाज और राष्ट्र का कोई दूसरा शत्रु नहीं। मनुष्य इस अहमन्यता का चश्मा चढ़ा कर देश; जाति और संसार को भूल जाता है, साथ ही अपनी वास्तविक स्थिति को भी। इस भूलभुलइयाँ में उसे यदि कोई चीज़ स्मरण रहती है तो केवल—"मैं हूँ"! कुछ नज़र आता है, तो समाज और राष्ट्र से कोसों-कोसों दूर अपनी स्वतन्त्र सत्ता!

वह समझता है हमारी आज की अवस्था ही वास्तविक अवस्था है। वासना और स्वार्थपरता अपनी विकृत और अप्राकृतिक अवस्था का बोध ही नहीं होने देती। न उसे क्रान्ति और नवनिर्माण का असली रहस्य ही समझ आता है। साथ ही क्रान्ति से जिन लोगों के स्वार्थ को धक्का लगता है वे भी उनके साथ मिलकर उस व्यक्तिवादी शक्ति को सब प्रकार न सुदृढ़ बनाते हैं।

सच तो यह है कि क्रान्ति का विरोध प्रायः रूढ़ी ग्रस्त-अन्धपरम्परा-नुगामी और स्वार्थप्रिय लोगों द्वारा ही सदा से होता रहा है। सुकरात ने भी इसका बहुत ही स्पष्ट उल्लेख किया है:—"प्राचीन परम्पराओं तथा कुत्सित रूढ़ियों में फँसा हुआ समाज निरंतर पतन तथा अवनति की ओर जाता है। ऐसे समाज के धनीमानी जन उन रूढ़ियों के पालन में बड़ी कट्टरता, तत्परता तथा श्रद्धा दिखाते हैं। उन्हें नवीन उन्नतिशील विचारों से बड़ी घृणा होती है। चाहे जो हो वे नये विचारों का विरोध

तथा उनके मानने वालों का निर्दयतापूर्ण दमन करते हैं। ऐसे अन्ध-परम्परानुगामी लोगों का मूर्ख-समाज अपने महान् पुरुषों तथा आदर्शों को नहीं पहचानता; क्योंकि उनकी आंखों पर धर्मान्धता की पट्टी बँधी रहती है।"

क्रान्तिकारी: – तो वस्तुतः असली माने में प्रकृति ही है। उसी की प्रेरणा से संसार में सर्वत्र क्रांतियाँ होती रहती हैं। जिन लोगों को हम क्रांतिकारी कहते हैं वे वास्तव में प्रकृति-नटी द्वारा प्रेरित सहृदय व्यक्ति मात्र हैं। अपने हृदय की अमलता और भावों की शुद्धता के कारण वे प्रेरणा से शीघ्र प्रभावित हो जाते हैं। जनसाधारण अपनी कृत्रिमता, मलीनता, मोह और कायरता के फलस्वरूप उस रूप का दर्शन इतना शीघ्र नहीं कर पाता। कोई मनुष्य जिसे सर्वसाधारण क्रांतिकारी कहते हैं वह क्रांति के प्रवाह में तद्रूप ही हुआ रहता है। उसे करने कराने का होश ही कब रहता है।

प्रारम्भ में क्रांति का उद्भव उसी जीवन में होता है जहाँ श्रद्धा और तर्क की साम्यावस्था हो। श्रद्धा के वशीभूत जो न तो अंधा बन गया हो और न तर्क के प्रभाव में पड़कर उच्छृङ्खल अर्थात् उसके जीवन में इन दोनों ही का पलड़ा बराबर हो संसार के सभी क्रांतिकारियों के जीवन में यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

कुछ कटमुल्लों का ख्याल है कि क्रांति का मूल कारण असंतोष है और यह उस समय तक उत्पन्न नहीं होता जब तक स्थिति का ज्ञान न हो जाय। इसलिये शांति, संतोष, कर्मफल, भाग्यवाद और पुनर्जन्म आदि का विकृतरूप दिखाकर जनसमाज को इस अवस्था से अलग—दूर रखने का यत्न करना चाहिये। यही क्राँति से बचने का सरल साधन है, इस स्थिति की आईना बनने वाली ऐतिहासिक पुस्तकों को जब्त करना और परिवर्तन के प्रचारकों को शांति और सुव्यवस्था के नाम पर फांसी के फंदे में झुला देना— इस लहर को रोकने के लिये काफ़ी है। किन्तु मदोन्मत्त सत्ताधारी यह सोचने का यत्न नहीं करते कि आत्मिक

असंतोष की आग को शरीर पर पानी डालकर ठण्डा नहीं किया जा सकता ! भावना-सिंधु की लहरों को दमन के दुधारे से छिन्न-भिन्न करने का स्वप्न केवल मानसिक व्यभिचार है क्राँति तो मानव-हृदय की एक भावना है,अजय शक्ति है। तोप-बंदूक आदि इसके कुछ वाह्य उपकरण मात्रहै। इसका आविर्भाव तो ज्ञान-यज्ञ द्वारा होता है। यही कारण है कि आज तक बड़े २ सत्ताधारी अपनी समस्त शक्ति लगाकर भी इसका दमन नहीं कर सके ! यह तो दबाने से और भड़कती है ! इसीसे संसार में न तो आज तक क्राँति का सर्वथा विनाश हुआ और न क्रांतिकारियों का।

ऐतिहासिक-विवेचन—द्वारा पूर्ववर्णित विषयों का और भी अधिक स्पष्टीकरण होजाता है। सहस्रों वर्षपूर्व जब ईश्वर और धर्म के नाम पर "वदिकहिंसा हिंसा न भवति" कह कर भाँति भाँति के दिल दहला देने वाले राक्षसी कृत्य और नग्न अनाचार हो रहे थे। उस समय एक ज़बर्दस्त क्रान्ति का आविर्भाव हुआ धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भीषण रूप से खलबली मची। रूढ़िग्रस्त स्वार्थप्रिय व्यक्तियों ने इसे अपने विकृत वर्तमान जीवन और क्षुद्रस्वार्थ के प्रतिकूल समझा और उसे धर्म-विरोधी एवं जन-हित-प्रतिकूल घोषित कर ज़ोरदार प्रतिवाद किया था उस क्रान्ति के नायक भगवान बुद्ध को नास्तिक कह कर उस प्रगति को अवरुद्ध करने की शत् शत् चेष्टाएँ की, किन्तु इससे क्रान्ति की प्रगति में लेशमात्र भी शिथिलता न आई ! इसका कारण एक मात्र यही है कि कि जब तक कृत्रिमता का परिशोधन नहीं होता, उस समय तक क्रान्ति का परिशमन सर्वथा असभव है। भगवान बुद्ध ज्यों २ अहिंसा-सदाचार और अस्तेय आदि विविध प्राकृतिक नियमों की प्रस्थापना करते गये, त्यों २ वहां स्वयं ही क्रान्ति के स्थान में शान्ति स्थापित होती गई। कुछ ही दिन बाद जब बुद्ध के शिष्यों में भी गड़बड़ी आई, फिर वहां भी पिछले इतिहास की पुनरावृत्ति एक नवीन ढंग से हुई। इस प्रकार मानव जगत के इतिहास में निरन्तर एक के बाद दूसरी क्रान्तियां होती रहीं। ईसा, मुहम्मद, सुकरात, लूथर, रामानुज, कबीर और नानक आदि उनके

नायक एवं उन्नायक थे। इनमें परस्पर भेद दृष्टिगोचर होने का प्रधान कारण देश, काल और परिस्थिति तथा तदनुसार साधनों का प्रयोग ही है; अन्यथा सबके मूल में एक ही भाव और उद्देश्य काम करता था। अर्थात् पीड़ित मनुष्य-समाज को अज्ञानता, दासता, विषमता और आसुरी प्रवृत्ति एवं अप्राकृतिक जीवन से छुड़ाकर यथासाध्य समयानुसार समता, स्वतन्त्रता, विज्ञान तथा नैसर्गिक जीवन से ओत-प्रोत परिणत करना। यह तो हमारी मूर्खता है कि हम सदा साध्य को भूल कर समय और हालत के मुताबिक बताए गए उन विविध साधनों के पीछे भटक रहे हैं। अन्धानुकरण द्वारा साम्प्रदायिक दुकानें खोलना, फिरकापरस्ती, करना हमारी बुद्धि के दिवालियेपन का ही तो पक्का सुबूत है!

इस प्रकार की अवस्था न केवल धार्मिक एवं सामाजिक-जगत की ही रही, अपितु राजनैनिक एवं आर्थिक क्षेत्रों की भी हुई है। इसी से सर्वदा उधर भी एक के बाद दूसरी क्रान्तियां लगातार होती रहीं। रूस, फ्रांस, रोम और प्राच्य की विविध राज्य-क्रान्तियां इसके जीते जागते उदाहरण हैं। जिसका सेहरा लेलिन, रूसो, मार्क्स, प्रताप और शिवा एवं संतावन के आज़ादी के दीवानों के शीश पर बंधा था। जिनका उद्देश्य और परिणाम सर्वत्र स्पष्ट है।

समय २ पर होने वाली इन विभिन्न ऐतिहासिक क्रान्तियों में प्रायः एक कमी रही। वे अधिकतर एकांकी ही होती रहीं। कभी धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में क्रान्ति मची तो कभी राजनैतिक और आर्थिक जगत में। बहुत बार तो केवल उथल-पुथल ही हुई निर्माण की तरफ किसी ने पैर ही न उठाया। कुछ आगे भी बढ़े तो पूरा नक्शा लेकर नहीं। वस्तुतः इतिहास की पुनरावृत्ति एवं बार २ मनुष्य समाज के पथ-भ्रष्ट होने का यह भी एक कारण है। द्वितीय हेतु है समय के साथ समझौता। क्रान्ति में जब नीति और संधिका आश्रय लिया जाता है तब उसका अर्थ क्रान्ति को पुनरागमन के लिये निमन्त्रण ही होता है। उसके साथ उचित संधि के माने हैं बनावटी और विकृत स्थिति एवं जीवन का सर्वनाश।

पर समयानुसार सुधारात्मक नीतिद्वारा यह नहीं होता।

उक्त त्रुटि के कारण ही उन्नीसवीं सदी में एक सर्वोन्मुखी क्रान्ति का आविर्भाव हुआ, जिसके प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती हुए। ऐतिहासिक अनुसंधान ने उन्हें विश्वव्यापी सर्वोन्मुखी क्रान्ति का मूल आधार बतलाया। उन्होंने ऐतिहासिक भूलोंका भी दिग्दर्शन किया, जिनके कारण संसार सदा गुमराह और क्रान्तियाँ असफल होती रहीं। उनके सतत प्रयत्न एवं बलिदान का परिणाम यह हुआ कि हमारे विकृत जीवन के प्रत्येक भाग में एक साथ ही भयंकर भूचाल आगया। देश, धर्म, जाति और समाज में हलचल मच गई। स्वार्थान्ध व्यक्तियों ने विरोध ही नहीं किया बल्कि षड्यन्त्रों द्वारा उन्हें शहीद भी बनाया। संसार ने "सत्यार्थप्रकाश" में अपना भूत और वर्तमान स्वरूप का दिग्दर्शन किया। उसे भविष्य के लिये क्रान्ति के साथ निर्माण का सर्वांग पूर्ण व्यवस्था और नैसर्गिक नक्शा मिला, जिसमें लोक और परलोक, आध्यात्मिकता और भौतिकता तथा धर्म, अर्थ, समाज और राजनीति सभी एक दूसरे के साथ आधाराधेय पूर्णतया सम्बद्ध थे। वहाँ व्यक्ति और समष्टि का अलौकिक समन्वय था, जहाँ बुद्धि और विज्ञान की उपेक्षा नहीं की गई थी, श्रद्धा और तर्क दोनों का बराबर स्थान था, जिसका आधार था "वेद"; (ज्ञान) और उद्देश्य था समस्त संसार की सर्वाभिमुखी मुक्ति।

साम्यवाद क्यों:—वर्तमान युग में समता का भाव क्यों उत्पन्न हुआ और वर्तमान विश्व-क्रान्ति का मूल कारण क्या है? यह पूर्व के प्रकरण से स्वयं ही प्रकट होजाता है। जब हमने परमात्मा और प्रकृति के आदेशों को ठुकरा कर अपने जीवन को वासना और स्वार्थमय बनाया तभी हम में अशान्ति और असन्तोष की आग धधकी। प्रमाण स्वरूप—जब हमने "मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" अर्थात् "किसी का धन लेने की इच्छा मत कर"—इस पवित्र ईश्वरीय आज्ञा को बलाय ताक रख, परस्पर एक दूसरे का शोषण एवं विविध छल, प्रपंच और नये २ तौर—तरीकों

द्वारा लूट-खसोट प्रारंभ किया, तब से आर्थिक विषमता का उद्भव हुआ और चारों तरफ अमीर-गरीब का वर्ग भेद दिखलाई देने लगा, साथ ही अपरिग्रह की उपेक्षा कर शोषक वर्ग स्वार्थी पूँजीपति के रूप में परिवर्तित हुए। फिर औद्योगिक क्रांति के फल स्वरूप बड़ी २ मशीनों से और भी शोषण शुरु हुआ। एक धन के उन्माद में दूसरा अभाववश नाना प्रकार का दुराचार करने लगा। डाका, हत्या और व्यभिचार बढ़ा। अपनी एकत्रित पूँजी की रक्षा और चोरी को न्याय सगत सिद्ध करने के लिये "वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम' अर्थात् हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं और वही एक हमारा राजा है,,–को ठुकराकर शोषकों ने स्वयं सम्राट बन कर निर्बलों पर शासन करना शुरु किया। धन के प्रभाव से धर्म-गुरुओं को अपने हाथ की कठपुतली बना मनमानी धार्मिक व्यवस्थाएँ लेकर तथा नियम कानून बना खुले बाज़ार मुनाफ़े और ब्याज के नाम पर, टैक्स और तन्ख्वाह के नाम पर तथा व्यवसाय और वाणिज्य के नाम पर भोले भाले श्रमकारों की गाढ़ी कमाई को हड़पने लगे।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघापृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥

इनमें कोई बड़ा और छोटा नहीं। ये सब एक जैसे भाई हैं। सब आपस में मिलकर उत्तम ऐश्वर्य के लिये प्रयत्न करते हैं। इनका पिता परमेश्वर और माता प्रकृति है इत्यादि ईश्वरीय आज्ञाकी अवहेलना कर ऊँचनीच का भेद भाव पैदा किया। पारस्परिक घृणा, अहंकार और कूटनीति के कारण एक दूसरे के शत्रु बने। एक अमृत पुत्र की जगह असंख्य बनावटी जातियों के रूप में बँटे। प्रकृति-प्रदत्त जलवायु भूमि आदि सार्वजनिक सम्पत्ति को व्यक्तिगत बनाया। गुण, कर्म की उपेक्षा कर जन्मगतपैतृक अधिकार तथा दौलत का निर्माण किया और किया सबपर ईश्वर धर्म एवं न्याय की मोहर लगा स्वच्छन्दता का नंगा नाँच।

इस प्रकार इन सब वेद-विरुद्ध कृत्यों का परिणाम यह हुआ कि चारोंतरफ़ असंख्य अभावग्रस्त नरकङ्काल तड़प २ कर असमय में

कालकवलित होने लगे और मुट्ठीभर शुष्क अतुर सत्ताधारी सम्पन्न श्रीमान बनकर भोले अमृत-पुत्रों के रक्त से अपने ऐय्याशी का महल रंगने लगे। सर्वत्र गुलाम मालिक, निर्धन धनवान, पूँजीपति-मजदूर, राजा-प्रजा और किसान-जमींदार की अनेक श्रेणियाँ बनी। सर्वव्यापी दासता एवं वैषम्य का विकास हुआ और उसके चरम सीमा पर हुआ श्रेणी युद्ध का भी गणेश।

शोषण शासन के साथ ही श्रेणी-संघर्ष भी क्रमशः विकसित होता गया। प्रथम व्यक्तिगत फिर दलबन्दी के रूप में। पश्चात राष्ट्रीय रूप में जिसका परिणाम विगत महासमर, छोटे राष्ट्रों की गुलामी और उपनिवेशों का निर्माण हुआ। आज एक तरफ साम्राज्यवादी और सरमायादार सब प्रकार से संगठित हो भांति २ के जाल फरेबों द्वारा फैसिस्ट का रूप धारण कर अपनी सत्ता को अक्षुण्य बनाए रखने की सतत चेष्टा कर रहे हैं तो दूसरी ओर शोषित-शासित सर्व हारा समुदाय अपनी मुक्ति का जी तोड़ प्रयास कर रहा है। इन दो वर्गों का सगठित संघर्ष ही तो वर्तमान विश्व क्रान्ति का मूल आधार है। जो वर्ग भेद के साथ ही दफनाया जायगा। और वह दफनाने वाली मूल शक्ति होगी "साम्यवाद" जिस का लक्ष्य है मानव समाज को सब प्रकार की दासता, विषमता और अज्ञानता से विमुक्त कर सर्वत्र समता, स्वतन्त्रता और विज्ञान की प्राण प्रतिष्ठा करना। इस साध्य की सिद्धि के लिए ही तो महर्षि दयानन्द क्रान्ति का आवाहन कर आजन्म दर २ की खाक छानते फिरे। इसी तरह वर्तमान साम्यवादी आन्दोलन हमारे अवैदिक जीवन का अपरिहार्य परिणाम है। जिसका उद्देश्य पूर्वोक्त सम्पूर्ण दुर्गुणों को दूर कर विशुद्ध वैदिक समाज की स्थापना करना है।

साम्यवादी रूस:—

इस बात का जीता जागता उदाहरण विद्यमान है। वहाँ अस्तेय और अपरिग्रह का क्रियात्मक रूप में व्यवहार हो रहा है; प्रकृति-प्रदत्त ईश्वरीय-ऐश्वर्य पर सब का समानाधिकार है। कोई ऊँच नीच नहीं,

सभी राष्ट्र के अङ्ग हैं। किसी को संचय करने का हक नहीं सभी को समाज को सेवाहित शक्ति भर कार्य और आवश्यकता भर उपकरण लेना धर्म है। वहां भारत की तरह असंख्य जातियाँ नहीं, जन्मगत और पैतृक अधिकार या सम्पत्ति भी नहीं और नहीं है अन्य राष्ट्रों को लूटकर पैरासाइट बनने की किंचित आकाँक्षा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वहाँ पोप और पंडों की तरह हाथ में माला ले कर पूंजीपति और साम्राज्यवादियों का गुणगान कर श्रम-कारों के रक्त चूसने वाले धर्माचार्य नहीं मिलेंगे, पर सच्चे रूप में असंख्य धार्मिक और मानव सेवी दिव्य आत्माओं का दर्शन अवश्य होगा वहाँ भले ही ईश्वर और धर्म का नाम न सुनाई देगा पर ईश्वरीय आज्ञा-नुसार असंख्य धार्मिक जीवन बिताते दिखलाई पड़ेंगे। वहाँ रूढ़ि, अन्ध-विश्वास और साम्प्रदायिकता न मिलेगी एवं न मिलेगा वहां शोषक-असुर तथा उसके पृष्ठ पोषकों का समूह! परन्तु कर्त्तव्य परायणों का झुंड सर्वत्र दिखलाई देगा।

स्वार्थ का परित्याग कर निष्पक्ष भाव से कहना पड़ेगा कि संसार में यदि वैदिक धर्म कहीं किसी अंश में भी क्रियात्मक रूप में जीवित है तो एक मात्र रूस में। भारत के हिस्से तो केवल पुस्तकों का बंडल तथा आर्यसमाजियों के हिस्से वेद पर कोरी लेक्चरबाजी ही मिली हुई है।

क्रान्ति का साधनः—

सर्वथा देश, काल और परिस्थितियों पर निर्भर है वह समयानुसार हिंसात्मक, अहिंसात्मक या अन्य रूप धारण करता रहता है। पर मूल साध्य तो सर्वथा एक सा अटल होता है। साध्य की सिद्धि ही विभिन्न साधनों का लक्ष्य है। चाहे वह स्थूल शरीर द्वारा हो या सूक्ष्म मानसिक शक्ति के ज़रीये—मर कर या मार कर।

इसमें कौन सर्व श्रेष्ठ है यह कहना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। कारण! कोई साधन कितना ही अच्छा क्यों न हो वह हमेशा के

लिये समान लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकता। किसी ने एक पहलवान से पूछा—"कुश्ती में सब से अच्छा दाव पेच कौन है ? उसने उत्तर दिया "जो समय पर काम आजाय"। क्रान्ति के साधनों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। समयानुसार साधनों के चुनाव पर ही किसी क्रान्ति की सफलता निर्भर है।

मनुष्य समाज में साध्य को भूल कर साधनों के पीछे दौड़ने की आदत सी हो गई है। इसी से असंख्य सम्प्रदायों का जन्म हुआ और निरन्तर एक के बाद दूसरी क्रान्तियाँ हो हो कर एक ही ऐतिहासिक विषय को दुहराती जा रही हैं। इतिहास के अध्ययन से साफ मालूम होता है कि मनुष्य जाति ने सामूहिक रूप में इतिहास से कोई लाभ नहीं उठाया, विशेष कर साध्य और साधन के सम्बन्ध में। हाँ, व्यक्तिगत रूप में तो बहुतों ने फायदा उठाया, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, लेनिन और दयानन्द उसी के फल थे। पर सामूहिक रूप में कोई समुदाय नहीं दीखता।
लेनिन कहा करते थे।

क्रान्ति का बल काग़ज़ के पुर्जें पर ही नहीं रहना चाहिए। उसका क्रियात्मक रूप संसार के सम्मुख आ जाना आवश्यक है। उनके विचार में गम्भीर से गम्भीर सिद्धान्तों की आलोचना की अपेक्षा एक मामूली क्रियात्मक कार्य की ओर ध्यान देना सोवियट ( पंचायत ) की रक्षा के लिये अधिक आवश्यक है।

"प्रत्यक्ष और उपयोगिता में विश्वास रखने वाला मनुष्य किसी भी समस्या के उपस्थित होते ही उसका अनुशीलन करना चाहता है। क्रान्तिकारी विचारक किसी घटना के केवल प्रत्यक्ष और बाह्य रूप को लेकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, वह कार्य-कारण का सम्बन्ध जोड़कर प्रत्येक समस्या के मूल में पहुँचने का यत्न करता है" ज्ञान की परख हमें जीवन में उसकी उपयोगिता की दृष्टि से करनी चाहिए। क्रियात्मिकता और उपयोगिता को कसौटी मानकर चलने से ही हम दर्शन और फ़िलासफ़ी की अनगिनत उलझनों को पार कर सकेंगे, मार्क्स के सिद्धान्तों के आधार पर विश्लेषण करने से जीवन तथा ज्ञान के क्षेत्र में जो कुछ तथ्य और सत्य जान पड़े, उसे ही हमें ग्रहण करना चाहिए। केवल संसार को जान लेना ही पर्याप्त नहीं, हमें उसे आवश्यकता-नुसार सुधारना भी होगा।

—"लेनिन और उसका सहयोगी "डिवोरिन"।

## द्वितीय—अध्याय

## अमित-मानव से !

समाना मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम् ।
सामानं मन्त्र मभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ॥

ऐ लोगो ! तुम्हारा समान विचार हो । समान सभा समिति
हो । सामान मन हो । मिला हुआ चित्त हो । मैं तुम सब
को सामान मन्त्र का उपदेश करता हूँ और सामान
आहुति से तुम्हारे यज्ञ को सफल करता हूँ ।
तुम सब परस्पर मिल कर रहो । परस्पर
संवाद किया करो ॥ तुम्हारे मन एक
दूसरे को समझा करें । यही सेव-
नीय कर्त्तव्य है । पूर्व देवता भी
परस्पर मिलकर इसी का
अनुशीलन करते रहे हैं ।

१—मानव जीवन—दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों के संघर्ष-क्षेत्र का ही नाम है। इनके जय-पराजय पर ही मानव जीवन का भावी-स्वरूप अवलम्बित है। आसुरी-प्रवृत्तियों को परास्त कर यदि दैवी प्रवृत्तियाँ विजयी हो गईं तो मनुष्य देवता यदि पराजित हो गईं तो मानव पशु के रूप में बदल जाता है। इस अवस्था में यदि मनुष्य का कोई चिन्ह अवशेष रहता है तो केवल शरीर मात्र ही।

परन्तु वास्तव में वह न तो देवता है और न पशु ही वह तो मनुष्य है, जिसमें देवत्व और पशुत्व के सूक्ष्म बीजों का अद्भुत सम्मिश्रण रहता है यही कारण है कि उसके जीवन-साहित्य का कर्म-पृष्ठ न तो दूध की तरह सफेद ही है और न कोयले की भाँति काला ही। यह बात दूसरी है कि एक के प्रबल-प्रभाव में दूसरे का अस्तित्व और स्वरूप आच्छादित हो जाय या हमारा दृष्टिकोण ही सर्वथा एकांकी हो, जिसमें हमें मनुष्य जीवन का दोनों भाग न दिखलाई दे। पर मनुष्य जीवन के रहते हुए इनमें किसी एक का पूर्णतया अभाव सर्वथा असम्भव है। देवता और दानव के रूप में परिवर्तित आप किसी भी व्यक्ति का जीवन साहित्य उलट-पलट कर देख जाइये! सर्वत्र उक्त सत्यता की साक्षी मिलेगी। चाहे वह संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष महात्मा गान्धी का दिव्य जीवन हो या घृणा का केन्द्र किसी पतिता का नारकीय...... !

२—मानव जीवन का उत्थान-पतन—मनुष्य जीवन में दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों के उत्थान-पतन का प्रधान कारण विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव ही है। इसी को हम सस्कार भी कहते हैं। परिस्थिति के अनु-कूल ही मनुष्य के संस्कार होते हैं और तदनुकूल ही होता है उसके शुभ अशुभ गुणों का विकास। अच्छे संस्कार हों तो मनुष्य जीवन में दैवी वृत्तियाँ विकसित होकर मनुष्य को देवता बना देती हैं और बुरे हुए तो आसुरी वृत्तियाँ विकसित होकर असुर के रूप में बदल देती हैं। परिस्थि-तियों की प्रेरणा एवं परिवर्तन से मानव जीवन में सर्वदा इन दो प्रकार की

वृत्तियों की हार जीत होती रहती है। इस भाँति मनुष्य कभी भला और कभी बुरा बनता रहता है। एक तरह से उसके जीवन का निर्माण सदा विविध परिस्थितियों के प्रभाव से ही होता है। मानव-परम्परागत पैतृक, सामाजिक और पूर्वजन्म के संस्कारों से सदैव घिरा हुआ ही एक निश्चित परीधि के भीतर चक्कर काटता रहता है। जो परिस्थितियाँ बलवान होती हैं वे कमजोर को दबाकर प्रायः अपने प्रभावों में बहा ले जाती हैं। परिस्थितियों के विविध भेद से अनभिज्ञ होने के कारण ही कोई भाग्य पर पुरुषार्थ का विजय कहें या संस्कार पर संस्कारों की जीत। इन विविध परिस्थितियों के प्रभाव भेद से ही संसार में सर्वत्र भिन्नता, वैषम्य और मतभेद दिखाई देता है। आज प्रत्येक प्राणी की स्थिति और संस्कार में आकाश पाताल का अन्तर है, फिर उनके विचार, कार्य और नैतिक जीवन में तो भेद होना ही हुआ। क्योंकि प्राणी – जगत् प्रायः परिस्थितियों से प्रभावित होकर उसके तद्रूप ही बन जाता है। इसीसे जितने अंशों में सब की परिस्थिति समान है, उतने अंशो में समानता और जितने में नहीं है उतने में भेद दृष्टिगोचर होता है। हम अपने विविध जीवन एवं विभिन्न परिस्थिति भेद से उत्पन्न संस्कारों को भूल जाते हैं। इसी से वर्तमान वैषम्य और विभिन्नत्व का रहस्य एवं मूल कारण नहीं समझ पाते। यदि पैतृक वातावरण में भेद हो तो सामाजिक वायुमण्डल साम्य होते हुए भी भिन्नता और वैषम्य दिखलाई देगा। यदि दोनों तरफ का ध्यान न रक्खा जाये तो इसका समाधान उचित रूप में होना असम्भव है।

इस तरह कभी कभी तो कर्त्ता की स्वतन्त्रता और स्वाधीन सत्ता पर संदेह ही नहीं अपितु अविश्वास सा होने लगता है। परन्तु ऐसा करने से मनुष्य के व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन में बहुत सी उलझनें पैदा हो जाती हैं। प्रत्यक्ष में अराजकता उत्पन्न हो कर उसे हानि पहुँचाने लगती है। जिससे विवस होकर उसे किसी हद तक मानवीय आत्मा को

स्वतंत्र कर्त्ता के रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है, पर उपलब्ध साधन और परिस्थितिके अन्तर्गत ही, वह भी नाम मात्र के लिए ही। क्यों कि जीवन के रहते हुए जीवात्मा का संस्कार शून्य होना असम्भव नहीं तो दुस्तर अवश्य है। इस समाधान के लिए ही मनुष्य अनुमान के अधार पर पूर्व कर्मों के फल का सहारा ले लेता है, पर परम्परागत, पैतृक और सामाजिक स्थितियों के समाधान हो जाने के बाद ही। कारण प्रत्यक्ष के बाद ही उसके आधार पर अनुमान किया जाता है। यही उचित भी है। असल में बौद्धिक अशान्ति से मुक्ति पाने की जिज्ञासा ही इस अनुमान का मूल है। और यही दर्शनों का वास्तविक आधार, पर प्रत्यक्ष को ठुकरा कर परोक्ष की पूजा मूर्खता का चिन्ह और पतन का कारण है। अतएव जब तक परोक्ष का मूल, इन विपरीत प्रत्यक्ष परिस्थितियों को बदल कर मनुष्य समाज में सामञ्जस्य स्थापित न होगा, तब तक सुख और शान्ति की कामना वामन के व्योम स्पर्श की कल्पना ही है। साम्यवाद इसी सिद्धान्त का पोषक और प्रचारक हैं।

३—मानव जीवन की सफलता—आसुरी प्रवृत्तियों को कुचल कर दैवी वृत्तियों के विकास में ही है। इसके लिए अनुकूल परिस्थितियों को प्राप्त करना अनिवार्य है। ज्यों २ मनुष्य का वातावरण दैवी गुणों के विकास के अनुकूल होता जाता है। त्यों २ उसके संस्कार अच्छे होते जाते हैं। उत्तम संस्कारों से ही जीवन महान् एवं दैवी प्रवृत्तियों से पूर्ण होता है। इसलिए गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त वातावरण इस ढंग का होना चाहिए कि दैवी गुणों के विकास में प्रोत्साहन और दानवी गुणों के दलन में सहायता मिले। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए ही प्राचीन ऋषियों ने १६ संस्कारों का विधान किया है, पर आज तो उनका नाम मात्र ही अवशेष है और वह भी पुस्तकों में।

मानवजीवन पर प्रभाव डालनेवाली परिस्थितियाँ कई प्रकार की हैं,

परम्परागत, पैतृक, सामाजिक पूर्वजन्म एवं गर्भगत। इन सब में मुख्य और मूल सामाजिक ही है, अन्य सब इसके आधार पर ही बनती बिगड़ती है। शारीरिक और मानसिक स्थितियों में भी परिवर्तन इसी के द्वारा होता है। सर्वत्र विषमता और विकृति का आधिपत्य स्थापित होना इसी का परिणाम है, अस्तु। जब तक सामाजिक वायुमण्डल विशुद्ध नहीं होता तब तक अन्य स्थितियों में सुधार असम्भव और व्यर्थ है। इस लिए मानव-जीवन की सर्वाङ्गीन सफलता का उत्तरदायित्व दैवीगुणों को विकसित करने वाली सामाजिक परिस्थितियों पर ही निर्भर है।

सम्पूर्ण वैयक्तिक और सामाजिक परिस्थितियोंको हम प्रायः दो भागों में बाँट सकते हैं आध्यात्मिक और आधिभौतिक। अधिकतर लोगों की धारणा है कि आध्यात्मिक परिस्थिति के परिवर्तन और सुधारमात्र से ही सम्पूर्ण भौतिक अवस्था में तत्काल काया पलट हो जायगी, अनेक बार मानव समाज में आसुरी प्रवृत्तियाँ जब प्रबल हो उठी और सर्वत्र हाहाकार मच गया तब परिस्थितियों को पलटने के लिए किसी न किसी महापुरुष द्वारा समय समय पर आध्यात्मिकता का प्रयोग भी हुआ। आज भी भारत में महात्मा गान्धी द्वारा वही हो रहा है। इस से आध्यात्मिक जगत् और तत्सम्बन्धी अन्य क्षेत्रों में थोड़ी बहुत उलट पलट भी हुई पर भौतिक स्थिति में कोई विशेष उल्लेखनीय अन्तर नहीं आया जिसे ऐतिहासिक कहा जा सके। सारे सिद्धान्त और उपदेश पड़े रहें और कुछ दिन बाद ही सारी अवस्था ज्यों की त्यों बन गई यही कारण है कि इतिहास निरन्तर एक ही विषय को दोहराता आरहा है।

**४—एक ऐतिहासिक भूल सुधार**—असफलताओं ने मनुष्य को अपनी स्थिति पर सोचने विचारने के लिये बाध्य किया। वह अपनी त्रुटियों को ढूँढनें के लिये विवश हुआ। वैज्ञानिक उन्नति के साथ साथ उसे अपनी स्थिति तथा ऐतिहासिक भूलों का ज्ञान होता गया। परिणाम लेंनिन के शब्दों में "भूखी, दरिद्र अस्वस्थ और अशिक्षित जातियों ने

कोई क्रियात्मक कार्य और आध्यात्मिक उन्नति ऐसी नहीं की कि, जिसे ऐतिहासिक कह सकें। आर्थिक उन्नति और शिक्षा ही प्रधान और प्रारम्भिक उन्नति है।" सर्वत्र एक हलचल मची और आध्यात्मिक स्थिति पलटने की जगह भौतिक वातावरण बदलने का ही निश्चय हुआ। इतिहास का एक नवीन अध्याय खुला सबने आश्चर्यके साथ इस सत्यका अनुभव किया कि मानव जीवन का मूलाधार आध्यात्मिकता नहीं अपितु भौतिकता है। भौतिक पिपासा की परितृप्ति के पश्चात ही आध्यात्मिकता का उद्भव होता है। पेट में रोटी पड़ने पर ही परमात्मा याद आता है। भौतिक उत्कर्ष के बिना आध्यात्मिक उन्नति असम्भव है। इतिहास में यह स्पष्ट है, भौतिक प्रभाववश आध्यात्मिकता का रङ्ग-रूप सदा बदलता रहा है। परन्तु आध्यात्मिकता भौतिक परिस्थिति को बदलने में सदा असफल रही है। इसलिये समाज के भौतिक वातावरण एवं आधार में आमूल परिवर्तन के बिना अन्य स्थितियों का बदलना असम्भव है। हमें भी आसुरी वृत्तियों को नष्ट कर दैवी गुणों के विकसित करने के अनुकूल ही समाज में भौतिक वातावरण तैयार करना होगा। इसी आधार पर हमारा सारा धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक गठन बनाना होगा। जिसमें व्यक्ति और समष्टि दोनों ही अनिवार्य रूप से बंधे होंगे। आसुरी प्रवृत्तियों को उत्पन्न करने वाले सभी समाजिक और वैयक्तिक विधानों को निर्दयतापूर्वक कुचल देना होगा। तब ही मनुष्य दैवी गुणों को विकसित कर मानव-जीवन को सफल बना सकेगा।

५—साधन में परिवर्तनः—मूल साधन में परिवर्तन होने पर साधनों में भी रद्दोबदल निश्चित था। अब तक लोग प्रेस और प्लेटफार्म द्वारा केवल उपदेश और प्रचार से ही परिस्थितियाँ बदलने का प्रयास करते थे। पर कर्यक्षेत्र में यह प्रयोग एकदम निकम्मा साबित हुआ। राजशक्ति के बिना यह सर्वत्र मनोरंजन का मसाला मात्र ही बना रहा। लोग उपदेश के समय झूमने लगते हैं पर बाहर आकर व्यवहारिकता

के मौके पर बगलें झाँकते, बहाने बनाते और उपदेश को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस भाँति बल और त्याग के बिना इतिहास में व्याख्यान व्यर्थ सिद्ध हुआ। लोगों ने अनुभव किया कि भौतिक वासनाएँ जो पशु प्रवृत्तिमय हो गई हैं वे केवल उपदेश मात्र से ही ठीक न होंगी। उनके लिये त्याग और कठोरता पूर्वक दमन की आवश्यकता है। इसके लिए प्रेस और सभामंच के साथ राजसत्ता भी चाहिये। राज्य शक्ति प्राप्त किए बिना न तो हम परिस्थितियाँ पलट सकते हैं और न कोई सुधार ही सम्भव है। अतएव हमारे लिए सब काम छोड़ कर पहले जैसे भी हो राज शक्ति प्राप्त करना अनिवार्य है। राज-सत्ता के साथ प्रेस और प्लेटफार्म की ताकत भी ठीक रूप में काम करेगी। दोनों के साम्य सहयोग से समाज की सारी भौतिक परिस्थितियों को दैवी प्रवृत्ति के विकास के अनुकूल बनाया जा सकता है। नैतिकता को उच्च बना जीवन को महान किया जा सकता है। जैसा कि रूस ने देखते ही देखते सब कुछ कर लिया, पर इङ्गलैंड के मजदूर सदियों से कोरे लेक्चर ही झाड़ते रह गये।

परन्तु जरा गम्भीरता से विचारने पर यह साफ प्रकट हो जाता है कि वस्तुतः समाज की उन्नति न तो कोरे उपदेश से होगी और न एकमात्र बल प्रयोग से ही। न केवल भौतिकता के विकास से ही काम चलेगा और न फ़कत आध्यात्मिक उत्कर्ष से ही। मनुष्य समाज के सर्वांग पूर्ण कल्याण के लिए तो दोनों ही का परस्पर सहयोग और समन्वय अपेक्षित है। वेद भगवान् का आदेश है।

"यत्र ब्रह्म च क्षत्रञ्च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा सहाग्निना॥"

यजु० २०—२५

जहाँ राष्ट्र के ज्ञानी और शूर पुरुष एक विचार से साथ साथ राष्ट्र-हित कार्य करते हैं और रहते हैं वह देश ही पुण्य देश है। वहाँ

ही सब प्रकार से सुख और शांति विराजती है। यही ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व का समन्वय मानव जीवन की सफलता का साधन और मार्ग है।

६—मानव जीवन का लक्ष्य वही है जिसकी पिपासा उसे प्रतिक्षण उद्वेलित करती रहती है जिसकी प्राप्ति के लिए वह दुनिया के भले बुरे सभी कार्य करने को विवश होता है और जिसके अभाव में उसे यह संसार भयावह एवं जीवन भार रूप प्रतीत होता है, वह है आनन्द। धर्म अधर्म, पाप-पुण्य, प्रेम-घृणा, सेवा और द्रोह सब इसी की प्रेरणा से उत्पन्न होते हैं। परिवार और समाज की रचना, उसके प्रति अनुराग और रक्षा की भावना तथा प्राणि जगत की अन्य सम्पूर्ण चेष्टाएं एवं कर्मों क मूल में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से आनन्द ही कारण रूप में सर्वदा विद्यमान रहता है। इसी के लिये मनुष्य सब कुछ करता है और है यही उसके जीवन का प्रमुख्य उद्देश्य।

प्राचीन ऋषियों ने अपने अनन्त काल के भगीरथ प्रयत्न एवं गम्भीर गवेषणाओं द्वारा विशाल ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण मूल तत्वों एवं नैसर्गिक नियमों का सम्यक् विश्लेषणकर कार्य रूप जगत के मूल कारण तीन नित्य पदार्थों का अनुसन्धान किया। जिनके मूलाधार पर सम्पूर्ण सृष्टि की रचना हुई। वे हैं, ईश्वर, जीव और प्रकृति। इन में प्रकृति सर्वथा जड और सत् है। ईश्वर इस से सर्वथा भिन्न सत्, चित् और आनंदमय ( सच्चिदानन्द स्वरूप ) है। जीवात्मा सत् और चित् दोनों ही है, किन्तु इस में आनन्द का सर्वथा अभाव है। बस इस अपूर्णता के कारण ही जीवात्मा सदा विकल रहता है और चैतन्य होने से आनन्द के अन्वेपण हित सदा तत्पर और सलग्न दीखता है। जिसके तद्रूप होना ही उसकी आन्तरिक पिपासा है। इस सिद्धि के निमित्त ही साधन रूप से वह अन्य समस्त कार्यों को सम्पादित करता है। कभी माता के स्तनों से लिपट कर दुग्धपान करता है तो कभी खिलौने के लिये मचलता है, कभी मित्र मण्डली बनाकर पार्टियों में भाँति २ के सुगन्धित सुस्वादु भोजन

उड़ाता है तो कभी सिनेमा, थियेटर संगीत और देश विदेश एवं वन उपवन का सैर करता है। किंतु सर्वत्र उसे क्षणिक सुख के बाद वेदना ही हाथ लगती है। यहां तक कि किसी समय तो जीवन भी उसे भार रूप बन जाता है और वह उससे छुटकारा पाने के लिये छटपटाने लगता है। सुमन-प्रेमी मनुष्य कण्टकाविद्ध होकर उद्यान से उदासीन बन कर विश्वमाली को ही बुरा भला कह कर अपने दिल के गुब्बार को निकालने लगता है। पर यह उसकी कितनी बड़ी भूल है?

७ – दुःख का कारण—अज्ञानता है। शांतचित्त होकर विचारने से भली भाँति इस का अनुभव हो जाता है। अज्ञानतावश मनुष्य जहाँ बार बार तृषार्त मृग की भाँति आनन्द जल के लिये दौड़ा जाता है वहाँ केवल रेत ही रेत है। जब प्रकृति स्वयं आनन्द से रहित जड़ है तो फिर उससे बनी दुनिया में आनन्द कहाँ? इन्द्रियों के सम्पर्क से वासना के कारण जो आनन्दानुभूति होती है,वह आनन्द नहीं अपितु सुख है, जिसके साथ दुःख भी लगा हुआ है। अज्ञानता वश इस सुखको ही प्रायः आनन्द मान लिया जाता है, जिसके फल स्वरूप हमें दुःख भोगना पड़ता है।

सुख, आनन्द और वासना तथा प्रेम में आकाश पाताल का अन्तर है। अल्पज्ञ जीवात्मा प्रायः इन्हें पहचानने में चूक जाता है। उसे स्मरण ही नहीं रहता कि सुख और वासना का उपभोग विभिन्न इन्द्रियों द्वारा होता है। इस में आकर्षण, रूपभेद और घटाव बढ़ाव के साथ दुःख भी होता है, किन्तु प्रेम और आनन्द में यह सब कुछ नहीं है। इन का उपभोग तो इन्द्रियों से पृथक् आत्मा द्वारा होता है। यह एक रस, एक रूप और सदा एक समान रहने वाला है। बस इस अनभिज्ञता के कारण ही वह प्रकृति के माया जाल में फंसकर कष्ट भोगता है। जब तक उसे सुख मिलता है इनसे खूब चिपटता जाता है, और जब भोग के बाद रोग उत्पन्न होता है तब दुःख से कराहने और ईश्वर को दोष देने लगता है।

प्रेम और आनन्द मार्ग से मनुष्य के विचलित होने का एक कारण और यह है कि प्रेम और वासना तथा आनन्द और सुख दोनों का रास्ता सौंदर्य और स्वास्थ्य के मुहाने से होकर ही गुजरता है, यदि मनुष्य इन दोनों स्थलों पर सचेत न रहे तो निश्चित है कि वह वासना का कीट बनकर क्लेद-कर्दम में निपतित होगा। एक तरह से ये मुहाने मानव-जीवन के परीक्षास्थल हैं, जिस पर उसका उत्थान-पतन अवलम्बित है। मनुष्य इन स्थलों में आकर प्रायः अपने आप को भूल जाता है। प्रकृति के चमकीले प्रभाव से उसके ज्ञान पर परदा पड़ जाता है, जिससे वह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझने लगता है। फिर तो सुख का इच्छुक मानव दुःख पाकर, विकल और अधीर बन जाता है।

पर यह सब क्यों हुआ ? यह स्पष्ट है, यदि मनुष्य अज्ञानतावश जड़ प्रकृति की उपासना में लिप्त न होता तो उसे सुख दुःख के झमेले में न पड़ना पड़ता। उचित तो यह था कि जब उसे इन्द्रिय रूपी उन्मत्त-अश्व से सुसज्जित जीवन रथ पर बैठकर संसार की विकट गली से होकर गुजरना ही था तो वह जरा होशियारी से मनकी लगाम को सम्हाले रखता, बुद्धिरूपी सारथी को सदा बगल में बैठा पथ- पथ का पूरा ध्यान रखता, कहीं ऐसा न हो कि जीवन-रथ का पहिया किसी गढ़े या चहले में फँस जाये और उसे वहीं टाँपना पड़े। साथ ही उसे अंग-प्रत्यङ्ग को समेट कर अपने लक्ष्य और कर्तव्य साधना में लगाए रखना उचित था, जिससे बाजार का तड़क-भड़क और कोलाहल उसे चंचल न कर दें, मार्ग न भुला दे पर उसने ऐसा नहीं किया। आरम्भ से ही इसके विपरीत आचरण करता गया, फल यह हुआ कि उसका जीवनरथ सारा दिन संसार की कण्टकाकीर्ण ऊबड़ खाबड़ कीचड़ से लतफद गलियों में चक्कर काटता रहा। लगाम ढीला होने से घोड़े खुला सरपट दौड़ते रहे। जीवन-रथ जगह २ टकराता चोटें खाता फिरा और कीचड़ से सराबोर होकर चूर २ हो गया। सारथी बेहोश होने लगा और घोड़े थक कर गिरने लगे, सन्ध्या हो चली, भयानक अन्धकार का आगमन होने लगा,

जीवात्मा अपने को रथ के साथ बीच मार्ग में वंधा पाकर चीत्कार कर उठा, पर 'फिर पछताये होत का जब चिड़िया चुग गई खेत।' आह! ज़रा सी भूल का कितना भयानक परिणाम हुआ?

८—प्रकृति का प्रपञ्च—दुःख का कारण प्रकृति का प्रपञ्च कहें या जीवात्मा की अल्पज्ञता, पर जीव जब अपने असली स्वरूप को भूल जाता है तब ही वह गुलाम बनता है। चाहे वह सुख की विह्लतावश भूले या दुःख की कातरतावश। पर आत्म-विमूढ़ता ही उसको अज्ञानान्धकार में गिराने का प्रधान कारण है। जब वह अपनी वर्तमान बिगड़ी हालत को ही सत्य मान बैठता है और विस्मृति के प्रहार से अपने भूत का इतिहास-दर्पण नष्ट-भ्रष्ट कर देता है उसी समय वह क्लेश कर्दम में निमज्जित होता है दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए, कि प्रकृति का स्वभाव है कि वह अपनी माया के चमकीले पर फैला जीवात्मा को आत्मविस्मृत कर अपना दास बना लेती है। यह सृष्टि के संचालन एवं स्थायित्व का जहाँ मुख्य आधार है वहाँ पतन का प्रेरक एवं दुःख दासता का कारण भी।

यह अवस्था प्रकृति से सम्बन्धित प्रत्येक जाति, देश और समाज के बन्धन की है। इसी से प्रकृति के उपासक चतुर शासक अपने शोषण शासन को स्थायी बनाने के लिए गुलामों का वास्तविक इतिहास ही चौपट कर देते हैं। अपनी शासन-सत्ता को दृढ़ रखने के लिए सभ्यता के नामधारी प्रचारक दमन, दम्भ आदि अनेकों अवैध और अमानुषिक उपायों का अवलम्बन करते रहते हैं। कारण, ज्ञान होते ही आत्मा में वर्तमान विकृत स्थिति के प्रति असन्तोष का उद्भव हो जाता है और वह क्रमशः विद्रोह तथा क्रान्ति का रूप धारण करने लग जाता है, फिर पाशविक मायाजाल का अन्त और जीवात्मा में अतीत के प्रति श्रद्धा एवं भावी-विकास के लिए व्यग्रता उत्पन्न हो जाती है। इसी लिए कूट-नीतिज्ञ अंग्रेज़ों ने भारतीय इतिहास को भ्रष्ट किया है फलस्वरूप

जो भारत हज़ारों वर्ष तक विदेशियों के निरन्तर आक्रमणों से भी पद-दलित नहीं हुआ वह इन दो सौ वर्षों में ही अपना अस्तित्व खोकर मरणासन्न हो गया। बस यही प्रकृति और प्रकृति के उपासकों की एक मात्र नीति है, जघन्य प्रवञ्चना है। इसी से प्राणी जगत् पराधीन होकर दर्दनाक नारकीय जीवन गुजार रहा है। इस दासता के दलदल से निकलने का एकमात्र साधन है अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान, इतिहास का पुनर्जीवन और वर्तमान विपरीत व्यवस्था एवं विकृत अवस्था के प्रति विद्रोह !

६—मुक्ति का असली रूप—मुक्ति का अर्थ बंधन से छूटना है। बंधन ही दुःख है पाप है। स्वतंत्रता ही आनंद है, सुख है और है पुण्य। यही कारण है कि मनुष्य ही नहीं प्राणीमात्र गुलामी की कड़ियों को टुकड़े २ कर स्वाधीनता प्राप्ति के लिए सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं। यह प्राणीमात्र का जन्म सिद्ध अधिकार है। मुक्ति कुम्भ की भीड़ में कुचल कर मरने को नहीं कहते और न अरब के रेगिस्तान में धूल फांक कर परलोक सिधारने को ही। यह, अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान से परे हो यह भी बात नहीं और न केवल शरीर छूटने पर ही इसकी उपलब्धि होती है। यह तो प्रकृति के प्रपंच द्वारा उत्पन्न सुख दुःख के झमेले से छूट कर आनन्दमय होने का नाम है इसका अनुभव इसी जीवन में स्पष्ट होता है। पग २ पर परतन्त्रता और स्वतन्त्रता की प्रतीति इस शरीर से सम्पर्क रहते हुए होती रहती है। ज्यों २ मनुष्य प्रकृति के माया जाल को भेद कर दुनियां के एक २ बन्धन से मुक्त होता जाता है त्यों २ उस में आनन्द की अनुभूति होती जाती है।

प्रमाण-स्वरूप यदि मनुष्य रसना का दास नहीं तो उसे इसके द्वारा मिलने वाला सुख दुःख नहीं व्यापता, वह चटपटी चीजें खा कर न तो बीमार ही होता है और न उसके अभाव में विकल ही। इस तरह एक इन्द्रिय की गुलामी से मुक्त होने पर जिस प्रकार मानव-जीवन में

आनन्दानुभूति होती है, उसी तरह यदि सभी इन्द्रियाँ और मन आदि से जीवात्मा मुक्त हो जाये तो उसके दुःखों का सर्वथा अभाव हो जाय। इसी भाँति लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा एवं दुनियां के दूसरे बन्धनों से छूटता जाये, फिर तो वह जड़ प्रकृति से एक दिन पृथक हो कर स्वयं ही आनन्दमय हो जाता है। हाँ! मनुष्य जितने अंशों में प्रकृति से बधा रहेगा उतने अंशों में उसे सुख दुःख अवश्य भोगना पड़ेगा।

उपरोक्त अवस्था जीवात्मा के व्यक्तिगत एवं समष्टिगत दोनों ही जीवन में समान हैं। किसी देश और जाति की मुक्ति का भी यही अर्थ है जो एक व्यक्ति का। दोनों ही का स्वरूप एक है और दोनों ही का ज्ञान प्रत्यक्ष। मानव-जीवन की तरह कोई देश या जाति ज्यों २ एक २ बन्धन से छूटती जाती है त्यों २ उसे आनन्द की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति होती जाती है। मानवीय आत्मा की सर्वाङ्ग पूर्ण मुक्ति वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार की मुक्ति में है। एक के बिना दूसरे की मुक्ति असम्भव है और न है सुखों का स्थायित्व!

१०—बन्धन विमुक्ति का साधन—मुक्ति का साधन ज्ञान है और बन्धन का कारण अज्ञानता। किसी भी बन्धन से मुक्त होने के लिए, उसका स्वरूप, मूल कारण, और उपचार का ज्ञान अत्यन्त आवश्यकीय है। इनमें किसी एक की कमी से लाभ की अपेक्षा हानि की ही अधिक सम्भावना है, उदाहरण के लिये किसी रोगी को ही लेलें—उसे रोग से मुक्ति पाने के लिए पहले रोग का पता होना चाहिए, फिर वह किन कारणों से उत्पन्न हुआ है इसका ज्ञान होना चाहिए और फिर औषधि, पथ्य आदि का। फिर कहीं वह रोग के बन्धन से छूट सकेगा। यदि रोग पहचाने बिना ही कोई दवा खिलाने लगे तो निश्चय है कि रोगी रोग के साथ ही कूच कर जायेगा। रोग की तरह ही कोई देश, समाज या व्यक्ति चाहे प्रकृति की दासता में बंधा हो या किसी विदेशी शासनाधीन, विषय-

वासना का गुलाम हो या दुःखरूपी कारागार में आबद्ध, प्रत्येक हालत में मुक्ति के लिए उक्त चार बातों का ज्ञान बहुत जरूरी है। यहां इतना कह देना असंगत न होगा कि कोरा ज्ञान ही मनुष्य को दासता से नहीं छुड़ा सकता। ज्ञान के साथ उसके अनुकूल कर्म भी करना चाहिए। कर्म के बिना ज्ञान लगड़ा है और ज्ञान के बिना कर्म अन्धा। इन दोनों के संयोग सम्बन्ध से ही मानव मनोरथ की उपलब्धि हो सकती है। जब गुलामी का रूप, कारण, उपचार और आजाद हालत का ज्ञान होगया तो ज्ञानपूर्वक कर्म भी होना चाहिए। तभी प्राणी बन्धन-विमुक्त हो सकेगा।

पर इन दोनों के साथ एक चीज़ की और भी आवश्यकता है, वह है उपासना। यह ज्ञान और कर्म का लक्ष्य स्थान है। एक नाविक को नाव चलाने का पूरा ज्ञान है और वह चला भी रहा है पर कहाँ जाना है —यह पता नहीं। इसका परिणाम एक न एक दिन जल समाधि के अतिरिक्त और क्या होगा? धीरे २ उद्देश्यहीन ज्ञान और कर्म में शिथिलता एवं विकृति का होना अनिवार्य है। और इसका अन्तिम परिणाम पतन और सर्वनाश निश्चित है। अतएव मुक्तिहित मानव-जीवन में ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों ही का समन्वय जरूरी है। ज्ञान और कर्म मनुष्य को परतन्त्रता से छुड़ाता है, उपासना उसे स्वतन्त्रता के साथ संयुक्त कर देती है। उपासना का अर्थ ही अत्यन्त निकट बैठना है। मानवी आत्मा को उसकी आकांक्षा के निकट बैठा देना ही उपासना का लक्ष्य है।

इन तीनों में किसी एक की कमी अथवा किसी एक में कुछ गड़बड़ी से विपरीत फल और सब में विकृति पैदा हो जाती है। ऐसी दशा में जीवन के मूल उद्देश्य की पूर्ति असम्भव हो जाती है। पहले भारत ही को लें, यहाँ मानव-जीवन को उन्नत बनाने वाले अमूल्य से अमूल्य ज्ञान विद्यमान हैं, पर उसके अनुकूल कर्म न होने से गुलामी के जीवन का ओर-छोर नहीं दिखलाई देता। चीन की ओर दृष्टि दौड़ाइये, सभी अफ़ीम

के नशे में मस्त अपने काम में तन मन से लगे हैं, पर ज्ञान न होने के कारण मुट्ठी भर जापानियों द्वारा मसले जा रहे हैं । यूरोप वालों पर नज़र डालिये ! उनमें उपासना अर्थात् लक्ष्य ठीक न होने से ज्ञान और कर्म दोनों ही गलत मार्ग में प्रयुक्त हो रहे हैं। परिणाम यह है कि भारत, चीन और योरुप तीनों ही अशान्ति और कष्टमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं । मनुष्य जीवन में ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीनों का अपने सत्य स्वरूप में परस्पर सम्बद्ध होना ही सुख शान्ति, सफलता और स्वातन्त्र्य का सच्चा मार्ग है ।

११—**स्वतन्त्रता का मार्ग**—प्राणि मात्र से प्रेम करना ही मुक्ति का मार्ग और प्रेममय होना ही मुक्ति है । प्रेम ही तो परमात्मा और परमात्मा ही प्रेम है । मानव जीवन में ज्यों २ प्रेम का विकास होता है, त्यों २ जीवात्मा वासना के पाप पंक से छूट कर परमेश्वर के निकट होता जाता है । इसी से उसे प्रेम में आनन्द की अनुभूति होती है । जीवन के प्रारम्भ काल से ही प्रेम का विकास होता जाता है । व्यक्ति परिवार, जाति, देश और फिर प्राणी मात्र में फैलता हुआ विश्व-प्रेम के रूप में बदल जाता है । जिसका अन्तिम लक्ष्य है:—

यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवान्नुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ यजुर्वेद ॥

"जो मनुष्य सम्पूर्ण चराचर जगत को अपने आत्मा में और आत्मा को चराचर जगत में देखता है वह कभी निन्दा को प्राप्त नहीं होता ।"

जब सारा जगत आत्म-स्वरूप हो जाता है तब ऐसे-एकत्व अवस्था वाले प्राणी को कहाँ मोह ? कहाँ शोक ? ऐसे व्यक्ति का व्यक्तित्व तो समुचित सीमा पाकर विश्व के कण २ में व्याप्त हो जाता है । विश्व में व्यापक, प्रभु की ज्योति के साथ तदात्मा होकर चमक उठता है । जिस प्रकार लोहा अग्नि के संसर्ग से तद्रूप हो जाता है और चमत्कृत हो उठता है । फिर उसमें दुःख रूप कालिमा कैसे ठहर सकती है ? इस

अद्वैत, एकता एवं जीवन विकास के लिये ही मानवीय अन्तःकरण में निरन्तर बीज की भाँति प्राकृतिक—प्रेरणाएँ होती रहती हैं। जो विश्व में बिखरे हुए अनन्त आत्माओं को एक सूत्र में शृङ्खलित और विस्तारित करती हैं जिससे मानव-प्रेम माता, पिता, पत्नी, पुत्र और मित्रादि पारिवारिक रूप से क्रमशः बढ़ते हुए "वसुधैव कुटुम्बकम्" के रूप में परिणत हो जाता है। बस, इस प्रेम का क्रमिक विकास ही मानव मुक्ति का सोपान है। ज्यों २ वह जगत् के अधिक प्राणियों में अपना स्नेह संस्थापित करता है त्यों २ वह वेदना से मुक्त होकर परमात्मा के निकट पहुंचता और आनन्दमय होता जाता है। इस जीवन तथा प्रेम के विकास और फैलाव के अनुकूल ही मनुष्य की सारी व्यवस्थाएँ बननी चाहिएँ। इसके सहायक नैसर्गिक नियम ही वास्तविक मानवी धर्म है और विरोधी पाप एवं अधर्म।

जब मनुष्य दुर्बलता एवं अज्ञानतावश इस प्रेम का विकास रोक कर वासना, स्वार्थ एवं पशुवृत्तियों का दास बन जाता है तब उसकी आत्मा क्रमशः संकुचित घेरे में कैद होकर चिराग़ की तरह बुझ जाती है। अथवा यों कहिए कि अन्धकार में पड़कर दुःख झेलती है।

साम्यवाद उन सारी व्यवस्थाओं को नष्ट कर देता है जो मानव-प्रेम को नहीं पनपने देतीं। वह मानवी-जीवन की आरम्भिक अवस्था बचपन से ही मनुष्य को राष्ट्र का एक अंग मान उसकी शिक्षा, दीक्षा का प्रबन्ध करता है। सब ही बच्चे राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। राष्ट्र ही उनका मां, बाप और परिवार है। बड़े होने पर वे जो कुछ भी करते हैं, वे अपने व्यक्तिगत लाभ और स्वार्थ के लिये नहीं, किन्तु उनका जीवन ही राष्ट्र के लिये और राष्ट्र का है। वह विवाह करके भी संकुचित गृहस्थ-प्रेम में नहीं फँस जाता, बल्कि उससे मानव प्रेम का पाठ पढ़ता है। वह कठोर परिश्रम करके भी उसका फल समाज को अर्पित कर देता है। इस प्रकार साम्यवाद में मनुष्य का जीवन ही समाजमय होता है फिर उसके

प्रेम का विकास किस प्रकार सिद्ध हो सकता है। साम्यवाद का अर्थ ही है समाजवाद। जिसका उद्देश्य मनुष्य के संकीर्ण जीवन एवं प्रेम को विकसित कर समाज के रूप में परिवर्तित करना। ऊँच नीच, घृणा-अहंकार, स्वार्थ और संकीर्णता को तथा इनके उत्पन्न करने वाले सभी विधानों एवं व्यवस्थाओं को नष्ट कर देना। जिसमें मानव-प्रेम व्यक्ति-वाद के माया जाल में बद्ध न हो जाय। और मनुष्य पूर्ण विकास को प्राप्त कर परमात्ममय बने एवं जीवन संग्राम में सफल हो।

इहैव तैर्जितः स्वर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

॥ गीता ॥

## वैदिक-समाजवाद का वास्तविक-स्वरूप

"समाजवाद—एक विज्ञान, एक धर्म, एक पद्धति, एक सङ्गठन, समाज का एक रूप, एक विश्वास, एक फ़िलासफ़ी, एक आन्दोलन, अपने विश्वास का प्रकाशन, रहन-सहन का एक ढङ्ग, एक आकाँक्षा एक आदर्श, एक विचार, एक मार्ग, एक जागृति, एक वातावरण तथा एक योजना ( Programme ) सब ही कुछ है।" "यह वास्तव में संसार की पूर्ण फिलासफी है, साम्प्रदायिक क्षेत्र में यह नास्तिकता का प्रतिपादन करता है। शासन-सम्बन्धी बातों में यह प्रजातन्त्र का समर्थक है. उद्योग-धन्धों में यह सामूहिक अधिकार चाहता है, असीम आशावादिता इसका तत्वज्ञान है तथा संकीर्ण कौटुम्बिक एवं वर्तमान विकृत वैवाहिक-बन्धनों को नष्ट करके मनुष्य को स्वतन्त्र कर देने के पक्ष में है।"

—Dr. F. J. C. Hearnshaw
और एक जर्मन अर्थशास्त्रज्ञ

## तृतीय-अध्याय

# जीवनादर्श !

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येक श्नुष्टीन्त्संवतेनेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥

अथर्ववेद

हे मनुष्यो ! मैं तुमको एक दूसरे का साथी, एक मन वाले, एक भोगों वाले, अपने इस वशीकरण कर्म से बनाता हूँ, तुम सब देवताओं की तरह अमृत के रखने वाले बनो. सायं प्रातः तुम्हारा परस्पर सौमनस्य अर्थात् पारस्परिक प्रेम और शुभचिन्तन सदा बना रहे।" वैदिक साम्यवाद में सामूहिक और संङ्गठित जीवन का कितना सुन्दर उच्चादर्श है ! समानता के विरोधी वैषम्यवादी ज़रा आँखें खोल कर मनन तो करें।

## १—वैदिक-साम्यवाद या वैज्ञानिक समाजवाद ?

इन दोनों का अर्थ असल में एक ही है। वेद का अर्थ ज्ञान है—संस्कृत भाषा या कागजी किताब नहीं और साम्यवाद का अर्थ समाजवाद है - समानवाद या एकरूपता नहीं। इस भाँति स्पष्ट है कि दोनों एक ही भाव के द्योतक हैं। भाषा तो ज्ञान का विनिमय एवं प्राप्ति का एक साधन है, वह स्वयं ज्ञान नहीं और पुस्तक उस ज्ञान को सुरक्षित रखने की पिटारी है। आश्चर्य है कि आज बड़े २ विद्वान तक इस वास्तविक तथ्य से दूर हट कर वेद और साम्यवाद के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण विचार करते दिखलाई देते हैं। जिससे सर्वसाधारण में सर्वत्र भ्रम फैला हुआ है। इसी से दोनों एक दूसरे के विरुद्ध भी भाषित होते हैं। यदि उपरोक्त रीति से वेद और साम्यवाद के असली तत्व को जान लिया जाय तो दोनों को परस्पर विरोधी कहने का कोई साहस न करें।

सृष्टि के शुरू में प्राणी समूह के कल्याणार्थ उसकी रक्षा, पालन और उन्नति-विकास के अनुकूल ज्ञान, उस विश्व-रचयिता ने सबको प्रदान किया। जिसका दिग्दर्शन हमें विभिन्न प्राणियों में स्पष्ट हो रहा है। यह कहना कि मानवेतर-प्राणियों में ज्ञान नहीं है—अल्पज्ञता का परिचय देना है। विकास के परिमाण में कमी-वेशी दूसरी बात है।

मानव-सृष्टि के आरम्भ में मानवी-आत्मा के हितार्थ भी उसने ऋषियों के हृदय में अपने अमूल्य ज्ञान को प्रकट किया और उन ऋषियों ने जिस भाषा में मानव-संसार पर उस ज्ञान को प्रकट किया—वही वैदिक-भाषा और उस देवी ज्ञान के लिपिबद्ध संग्रह का ही नाम "वेद" है। और उस वेद-प्रतिपादित समाज-विज्ञान को ही "वैदिक-समाजवाद" कहते हैं। इसका अवतरण किसी व्यक्ति विशेष एवं

समुदाय के लिये नहीं प्रत्युत सब के कल्याणहित हुआ। इसमें जन्म, जाति और राष्ट्र भेद का कोई प्रश्न नहीं। प्रत्येक प्राणी अपने गुण,कर्म और स्वाभावानुसार सर्वहित के अन्तर्गत अपने व्यक्तित्व का विकास और उपयोग कर सकता है। सभी सामान्य और विशेष नियमों को पालते हुए सामानरूप मे यथायोग्य स्थान पाने के हकदार हैं। सब की शक्ति और योग्यता के विकास, उपयोग एवं भोग के अनुकूल साधन, सुविधा अवसर और क्षेत्र पाने की समान व्यवस्था है। वेद तथा वैदिक-समाजवाद की महत्ता इस बात में नहीं हैं कि यह दुनिया में सब से पुराना है। कोई वस्तु नई पुरानी होने से भली-बुरी नहीं हो सकती। यह तो उसके गुण-अवगुणों पर निर्भर है। इसमें तो अध्यात्मिकता और भौतिकता का अद्भुत समन्वय, व्यक्ति और समाज का सुदन्र गठन तथा आसुरी वृत्तियों को नियन्त्रित कर दैवीवृत्तियों को विकसित करने वाले नैसर्गिक विधान एव व्यवस्थाओं का अद्वितीय-नियम है, यहां न तो दुनिया को नरक का खान बताकर प्रत्यक्ष से घृणा उत्पन्न की गई हैं और न जगत को ही एकमात्र सर्वसुखों का मूल बनाकर प्रत्यक्ष के प्रति ममत्व ही पैदा किया गया है। इसमें तो दोनों का सर्वाङ्गपूर्ण समन्वय है—जैसा कि आज तक इतिहास में कहीं अन्यत्र नहीं मिलता।

२—वैदिक-साम्यवाद की आधार शिला—तीन कर्त्तव्यों पर प्रतिष्ठित है। प्रथम अपने प्रति, द्वितीय समाज के प्रति और अन्त में ईश्वर के प्रति। वैदिक-विधान में इन तीनों से सम्बन्धित ही जीवन से मृत्यु पर्य्यन्त समस्त मानुषी कर्मों का निरूपण है। जिसका उद्देश्य मनुष्य-जीवन को आजन्म सुख भोगते हुए आनन्दमय सर्वबन्धन विमुक्त करना है। ये तीनों कर्त्तव्य परस्पर आधाराधेय हैं और हैं एक दूसरे के पूरक! इनमें एक में भी विकृति उत्पन्न होने से दूसरे को अपने सत्यस्वरूप में कायम रहना असम्भव हो जाता है और पश्चात् मानव जीवन एवं समाज अशान्ति, असन्तोष और कष्ट का क्रीड़ाक्षेत्र बन जाता है। वर्त्तमान-विश्व इसका जीता जागता उदाहरण है। जहां किसी भाग में लोग

अपने प्रति कर्त्तव्य का पूर्णतया पालन नहीं करते, तो किसी राष्ट्र में समाज के प्रति और किसी जगह ईश्वर के प्रति उपेक्षा का भाव है। फलस्वरूप सर्वत्र स्थायी शांति और सुख का अभाव है। पर जितने अंशों में जहां इन कर्त्तव्यों का पालन है वहां उतने परिमाण में सुख, शांति और आनन्द भी है।

सामान्य— विशेष के भेद से उपरोक्त कर्त्तव्य दो प्रकार के हैं। सामान्य वह है जो बहुजन समाज के हितार्थ सब के लिये समान हो और विशेष—जो देश, काल और परिस्थिति भेद के कारण अपवाद रूप में अल्पसंख्यक-समाज के कल्याणार्थ निर्धारित किये गये हैं। वैदिक-सम्यवाद में ये दोनों कर्त्तव्य एक दूसरे के पूरक और सहायक है— विरोधी नहीं और विरोधावस्था में सामान्य के रक्षणार्थ विशेष का उत्सर्ग अनिवार्य है। लेनिन भी इसी वैदिक-विधान का समर्थक था। उसका कथन है—"व्यक्ति परिवार के लिये, परिवार पड़ोसियों के लिये, पड़ोसी ग्राम के लिये, ग्राम प्रान्त के और प्रान्त राष्ट्र के लिये आत्म त्याग करे, इसी प्रकार जातिगत, सम्प्रदायगत और समाजगत वैमनस्य दूर हो कर (One for all and all for one) रहेगा।" भारतीय इतिहास में इस आदर्श पर बलिदान हुए असंख्य शहीदों का नाम स्वर्णाक्षरों से अंकित है।

एक तरह से ये सामान्य और विशेष एक दूसरे के अपेक्षित हैं; यथा –प्रान्तीय कर्त्तव्य राष्ट्रीय-कर्त्तव्य की अपेक्षा विशेष, और जिला की अपेक्षा सामान्य, विशेष क्रमशः विकसित होता हुआ अन्त में "वसुधैव कुटुम्बकम्" के रूप में विस्तारित होकर सामान्य में विलीन होता जाता है। इसी को धर्म कहते हैं। धर्म का अर्थ कर्त्तव्य (Duty) है। जिस कर्त्तव्य से जिसका धारण हो वह उसका धर्म है। तदनुसार ही मनुष्य का धर्म वह है जिससे मानव-जीवन या मनुष्यत्व कायम रहता हुआ अभ्युत्थान की ओर बढ़े। उक्त दो प्रकार के कर्त्तव्यों से ही मानवता

की स्थिरता है। पहले इसीसे अर्थ की प्राप्ति होती है। अर्थ का आशय पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त आवश्यक वस्तुएं हैं, जो मनुष्य प्रकृति से संघर्ष कर प्राप्त करता है। इस अर्थ रूपी साधन से जीवात्मा के अन्तरिक कामनाओं की पूर्ति होती है। कामना क्या है? दुःखों से छूट कर सुख भोगते हुए आनन्दमय होना। बस! इसी को मोक्ष कहते हैं जो जीवन का प्रधान लक्ष्य है। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पदार्थ ही वैदिक साम्यवाद का मूलाधार एवं उन्नति का क्रम है। इन चारों का सम्बन्ध शरीर, मन बुद्धि और आत्मा से है। इसी से शास्त्रकारों ने चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये इनकी शुद्धि का विधान किया है।

वैदिक समाज में उक्त कर्त्तव्यों के पालनहित मानव-जीवन को चार भागों में विभक्त कर समयानुसार तदनुकूल क्षेत्र भी तैयार कर दिया गया है। जिसके द्वारा मनुष्य सरलता से अपने इष्ट की प्राप्ति में समर्थ बन जाता है। उस क्षेत्र विधान को ही 'आश्रम-व्यवस्था" कहते हैं। जिनमें पूर्वोक्त तीनों कर्त्तव्यों की पूर्ति होती है। वे ये हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्त, वानप्रस्त और सन्यास। ये सभी पृथक पृथक होते हुए भी पारस्परिक आधार पर स्थिर हैं। ब्रह्मचर्य की सफलता पर ही गृहस्थ और गृहस्थ पर वानप्रस्त और सन्यास की उन्नति एवं स्थायित्व अवलम्बित है। जिसके द्वारा मनुष्य का जीवन एवं व्यक्तित्व क्रमशः विकसित होता हुआ अन्त में समस्त विश्व में व्याप्त आनन्द-स्वरूप प्रभु के साथ तद्‌ात्म होता है। प्रथम आश्रम में मनुष्य की व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि होती है, द्वितीय में वह समाज के रूप में विकसित होकर समाजमय हो जाता है और अन्त में वह विश्वमय के रूप में परिणत हो जाता है। मानव-जीवन के इस क्रमिक-विकास की सुन्दरतम व्यवस्था वैदिक-समाज में देखने ही योग्य है!

**३. वैदिक-साम्यवाद में मानव-जीवन**—के प्रारम्भिक अविकसित जीवन भाग को ब्रह्मचर्याश्रम कहते हैं। इस काल में मनुष्य ब्रह्ममय अर्थात् आनन्दमय होकर विचरने का मूल साधन ज्ञान को प्राप्त करता है।

नैतिकता और चरित्र-गठन, प्रकृति-प्रदत्त सूक्ष्म-शक्तियों का विकास-अंग-प्रत्यंग की वृद्धि एवं पुष्टि और आसुरी वृत्तियों का दलन आदि सब उस एकही साध्य की सिद्धि के लिये साधनरूप में व्यवहृत होता है। इस अवस्था में समाज के प्रत्येक सदस्य को पचीस वर्ष के आयु पर्यन्त इस आश्रम-धर्म का पालन अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। अबोध काल तक तो माता-पिता की संरक्षता में उसका लालन-पालन होता है 'और शेष काल गुरु की अध्यक्षता में। जहाँ गुरु एक कुशल किसान की तरह उसके पवित्र व्यक्तित्व तथा बीज रूप दैवी शक्तियों को उसके अनुकूल उपकरण द्वारा, जल-वायु एवं खाद्य और परिस्थितियाँ प्रदान कर विकसित करता है। नियमोपनियम का बेड़ा डाल कर बाह्य-प्रकोप और आसुरी-आघातों से रक्षा करता है। अपने नियन्त्रण में अपनी निगरानी द्वारा उसे सब प्रकार से पूर्ण बना, भावी-जीवन-संग्राम के योग्य बनाता है; ताकि वह एक सफल-सैनिक बन कर प्रकृति पर सरलता से विजय पा सके। आधुनिक भाषा में इसे शिक्षा काल भी कहते हैं। इस काल में गुरु चित्रकार या संगतरास की तरह अपनी योग्यता या शक्ति को शिष्य में नहीं डालता अपितु शिष्य की अव्यक्त शक्तियों को ही विकसित करता है। इसके विकास पर ही मनुष्य के भावी-जीवन की सफलता निर्भर है। इस काल में विद्यार्थी को भी बड़ा ही संयमित जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उसके रहन-सहन एव अन्य दैनिक कार्यों का निर्माण सर्वथा भावी वैदिक-समाज एवं जीवन के क्रियात्मिक-गठन के आधार और ढंग पर ही होता है, ताकि उसे भावी कार्य-क्षेत्र का नक्शा आसानी से समझ में आजाय। वह वासना, स्वार्थ और अह मन्यता के वशीभूत हो क्षुद्र-व्यक्तिवाद के उग्र-उन्माद में बेसुरा राग न अलापे, प्रत्युत एक मानव परिवार के रूप में रह कर सामाजिक जीवन व्यतीत करते हुए अपना कार्य सम्पादित करें। गुरु का भी धर्म है कि सब को भावी जीवन में काम आने वाले सभी प्रकार का उत्तम ज्ञान प्रदान करें।

इस आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को पृथक-पृथक अध्ययन कार्य करते हुए भी सम्मिलित जीवन एक कुटुम्ब के भाँति व्यतीत करना होता है। सबका रहन-सहन, खान-पान एवं अन्य सभी व्यवहार एक वृहद् परिवार की तरह होता है। सबको शक्ति भर अध्ययन-कार्य करना होता है और सब को आवश्यकतानुसार सभी चीजें प्राप्त होती हैं। दैनिक व्यक्तिगत व्यवहार की वस्तु के अतिरिक्त किसी चीज पर किसीका स्थायी अधिपत्य नहीं। कोष, स्टोर और अन्य सब कुछ गुरुकुल का सम्मिलत है, विद्यार्थी को केवल उपयोग करने का हक है जैसा कि वैदिक व्यवस्था में निरूपण किया गया है।

इस प्रकार न तो कभी किसी को संग्रह की इच्छा होती है और न कभी किसी वस्तु का अभाव ही होता है। सब को पता है कि यहां से कुछ भी साथ नहीं ले जाना है, फिर अपने साथ तथा समाज के साथ प्रवंचना कर क्यों सञ्चय करें ? आवश्यकतानुसार तो यहां सब को मिलता ही है। अहाहा ! कितना अच्छा होता यदि मनुष्य इस विशाल विश्व-विद्यालय में भी अपना वहीं नियम बनाकर सदा चलता रहता— फिर भला आज मानवता की इतनी छीछालेदर क्यों होती ? सब के साथ गुरुकुल की तरह समान व्यवहार होता। न तो किसी व्यक्ति विशेष की संतति होने के कारण किसी के साथ रियायत-मरौवत होता और न किसी प्रकार का भेदभाव ! सब के लिये समान व्यवस्था होती। इतना ही नहीं अपितु जिस प्रकार अध्ययन काल में ऋषिमतासार किसी को यह पता या महसूस भी नहीं होने दिया जाता कि वह किस परिवार की संतति है— उसी अनुसार समाज की भी व्यवस्था होती। आरम्भ में सब का परिवार और संरक्षक गुरुकुल और उसके बाद समाज या राष्ट्र होता है। इससे पृथक उसका कुछ नहीं —अस्तित्व तक नहीं, जीवन का क्या कहना ?

अतएव जब आरम्भ से ही प्रत्येक स्त्री-पुरुष युवावस्था तक

सम्मिलित साम्यवादी जीवन विताने के पश्चात् समाज में प्रवेश करे— तब भला उसके नियमित जीवनमें व्यक्तिवाद, अहंमन्यता और शोषण-शासन की कुत्सित पूंजीवादीवृत्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है ! समाज भी उसका सहर्ष स्वागत कर अपने गोद में उसके गुण, कर्म, स्वभावानुसार यथायोग्य स्थान प्रदान करता है। इस अवस्था में उसके भरण-पोषण एवं सेवा-कार्य की जिम्मेवारी और नियंत्रण गुरुकुल पर से हट कर समाज पर आ पड़ता है। अब समाज उसका उत्तरदायी है और वह समाज के कर्त्तव्यों का। पट परिवर्तन मात्र हुआ अन्यथा सब पूर्व के पढ़ाये गये पाठोंका व्यवहारिक प्रयोग ही है। गृहस्थ ब्रह्मचर्य में विकसित शक्ति और प्रतिभा का स्वतन्त्र प्रदर्शन-क्षेत्र एवं परीक्षास्थल है।

इस भाँति वैदिक समाज में सवत्र राज्य की संरक्षता में जगह २ शिक्षणालयों का अनिवार्य रूप से विधान है और राष्ट्र के प्रत्येक संतति के लिए अभेदभाव से प्रवेश जरूरी है। सब राष्ट्र के अंग हैं। किसी का कमजोर या बुरा होना राष्ट्र का कलंक है। राष्ट्र के ऊपर सबका भार है। सभी को अपनी प्रकृति के अनुकूल सुविधा, साधन और क्षेत्र मिलता है। जन्म, जाति और आकृति भेद का कोई विभेद नहीं। हां ! वयस्क काल की प्राप्ति में तथा मातृत्व और पितृत्व में भेद होने के कारण स्त्री-पुरुष का का शिक्षणालय एवं शिक्षा अन्य सभी बातों में समान होते हुए भी अलग अलग होने का विधान है। साथ ही मातृ-पितृ शक्ति के विकास हित इस विषय की शिक्षा में विशेष भेद है। अर्थात् वैदिक समाज में स्त्री-पुरुष की "साम्य शिक्षा" होते हुए भी "सहशिक्षा" का निषेध है और नारीत्व एवं पुरुषत्व का विशेष। पर इसका अभिप्राय उनके मध्य पर्दा आदि का होना नहीं—यह तो सर्वथा निन्द्य है।

४. वैदिक-साम्यवाद में समाज निर्माण—का श्री गणेश उस समय से होता है, जब मानव-हृदय को एक अज्ञात प्रलय—पिपासा एकदम बेचैन कर देती है। यौवनावस्था प्राप्त करते ही जिसकी अनुभूति उसके अस्तित्व में उद्विग्नता और असंतोष पैदा कर देती है। इस के प्रभाव से

वासनायें प्रबल हो उठती हैं, इन्द्रियाँ चंचल हो जाती हैं, मानव-जीवन अपने को सर्वथा ऐकाँकी और अपूर्ण पाता है. और पाता है अपने में आत्म-समर्पण एवं आत्मविकास की उत्कट—आकाँक्षा ! इसे आप जवानी की मस्ती कहे या काम का उन्माद अथवा सृष्टि संचालन हित प्रकृति की अव्यक्त प्रेरणा ? पर है यही सामाजिक-गठन के सूत्रपात का मूल—आधार—स्तम्भ। इस अवस्था में मानव-हृदय स्व-प्रकृति के अनुकूल किसी ऐसे सहचर की तलाश में भटकने लगता है, जिससे वह तदात्म कर सके। नित्य प्रति अन्तर में उत्थितभावों का बोझ ढोते रहना उसके लिये दूभर हो जाता है। वह समाज से एक सुन्दर मनोनीत साथी चाहता है; जिससे वह पारस्परिक सहायता एव आदान-प्रदान द्वारा जीवन की कटुता दूर कर सके, कठिनाइयाँ सरल कर सके, और मन का बोझ कुछ हल्का कर सके। शास्त्र उसके इस नैसर्गिक माँग का खुला समर्थन करता है:—

"स वै नैवारे मे तस्माद् ऐकाकी न रमते।"

अर्थात् वह समाजिक प्राणी है, कभी अकेला नहीं रहा—इसलिए वह एकाकी नहीं रह सकता। कारण ?

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत।
अर्धेन नारी तस्यां सविराजम सृजत्प्रभु ॥

विधाता ने दो भागों में अपने शरीर को विभक्त किया—स्त्री और पुरुष ! इन दो भागों के सम्मिलन से ही पूर्ण-पुरुष का निर्माण होता है। इसी से स्त्री-पुरुष दोनों ही अपने में अपूर्णता और एकांकीपन का अनुभव करते हैं—एक दूसरे के अपेक्षित रहते हैं। वह विश्व-रचयिता इनमें किसी को भी इस योग्य नहीं बनाया कि वे पारस्परिक सान्निध्य एवं सम्मिलन के बिना स्वयं अकेले अपने आप अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें—प्राकृतिक पूर्णता को प्राप्त कर सकें। ऐसा करने में ये सर्वथा असमर्थ है—एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व-असम्भव

है। ये दोनों ही परस्पर पालक, पूरक और सहायक हैं—एक सांचे के दो पल्ले हैं।

बस! स्त्री-पुरुष के जीवन में पारस्परिक साहचर्य-सम्बन्धहित उग्र-आकुलता का यही प्रधान कारण है, जिसके मूल में प्रकृति की स्वाभाविक मंशा—"सृष्टि का संचालन" प्रच्छन्न रूप से सान्निहित है। इतना ही नहीं बल्कि इस संसार-सागर को पार करने में वा जीवन संग्राम की कठिनता को हल करने के लिये स्त्री-के लिये पुरुष और पुरुष के लिए स्त्री के अतिरिक्त और कोई अन्य योग्य साथी भी दुनिया में दूसरा नहीं। यही परस्पर एक दूसरे में अपने को विलीन कर सकते हैं। अपना हृदय खोल कर एक दूसरे के सन्मुख रख सच्ची सहानुभूति एवं स्नेह ले दे सकते हैं और कर सकते हैं, एक दूसरे के लिये सर्वस्व समर्पण एवं उत्सर्ग!

इस नैसर्गिक नियमोपनियम के आधार पर ही वैदिक-साम्यवाद ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर आये हुए प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपने प्रकृति के अनुकूल गुण कर्म स्वाभावानुसार मनोवांच्छित सहचर के चुनाव की सम्यक् स्वतन्त्रता प्रदान करता है, जिसे "स्वयम्वर" कहते हैं। यह उन्हें परस्पर स्नेह-सूत्र में आबद्ध हो "एक जीव दो देह" बनकर साम्य स्वतन्त्र और स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा करता है और उनके अनुकूल सभी उपकरण उन्हें प्रस्तुत कर साहचर्य-सम्बन्ध को चिरस्थायी बनाने में सदा प्रयत्नशील रहता है। बस! इस परिणय-प्रसिद्धि का ही नाम "विवाह" है।

महर्षि दयानन्द के कथनानुसार—"विवाह" जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से, अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना "विवाह" कहाता है।" इसका अर्थ-बन्धन या यौवन की आंधी में उच्छृङ्खल-पशु-लालसा के खुल खेलने का पासपोर्ट नहीं। यह तो महात्मा गान्धी के शब्दों में:—स्त्री-पुरुष की विषय-वासना को मर्य्यादित रखने के लिये "विवाह" एक सर्वसामान्य धार्मिक व्यवस्था है।" जो आत्म-विस्तार एवं समाज-

निर्माण का प्रारम्भ तथा अपूर्णता का अन्त है। यह मानव-प्राणी को सामाजिक-साहचर्य सम्बन्ध एवं उत्तरदायित्व को उद्वहन करने की शिक्षा देता है। प्रेम का पाठ पढ़ा त्याग, उत्सर्ग और समर्पण का मार्ग बताता है तथा करता है विभक्त अर्द्धाङ्ग-मानव की ऐकाकी जीवन एवं स्वरूप को विकसित कर संयुक्त एवं व्यापक-महान्। जो क्रमशः प्रसारित हो वसुधैव कुटुम्बकम् के रूप में परिणत होकर परमानन्द में विलीन हो जाता है।

वैदिक-साम्यवाद इस वैवाहिक विधान द्वारा मानव-जीवन में वासना और संयम के बीच सामञ्जस्य स्थापित करता है। वह न तो वैषयिक-पिपासा को सर्वथा नष्ट ही करता है और न उसे पशु-प्रवृत्तिमय होने देता है। वह तो वासना को प्रेम का सोपान बना वैषयिक आकर्षण द्वारा व्यक्तित्व का विस्तार एवं एकीकरण करता है। लम्पटवृति को नियन्त्रित रखने के लिये पति और पत्नी-व्रत का अनिवार्य विधान करता है, ऋतु-गामी होने का आदेश देता है, साथ ही स्त्री-पुरुष के इस साहचर्य-सम्बन्ध का सात मुख्योद्देश्य बताता है।

इषे राये रमस्व सहसे द्युम्न ऊर्जे अपत्याय।
सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौप्रावताम्॥

यजु०। १३। ३४

हे स्त्री-पुरुषो! तुम दोनों विज्ञान, धन, बल, यश, अन्न, पराक्रम तथा संतान प्राप्ति के लिये साहचर्य सम्बंध स्थापित करो। कूपोदक के समान कोमलता प्राप्त कर इस वेदोपदेश में कुशल होकर स्व-शरीर और अन्नादि पदार्थों की रक्षा आदि करो—यह तुमको उपदेश देता हूं।" यद्यपि इन सब में मूल और प्रधान आर्थिक स्वार्थ ही हैं। यही स्त्री-पुरुष के साहचर्य-संगठन—अर्थात् विवाह और समाज निर्माण का एकमात्र प्रारम्भिक न्याय कारण और अन्य सब उसके अपरिहार्य परिणाम है। परन्तु यह आर्थिक-स्वार्थ ही उसके जीवन का एकमात्र अन्तिम लक्ष्य नहीं। यहां से तो केवल उसके उद्देश्यपूर्ति

का प्रारम्भ ही होता है । पूर्व वर्णित सारे उद्देश्य केवल साधनरूप हैं। यथा विवाह का उद्देश्य वास्तव में सन्तान नहीं—यह तो वासना तृप्ति का अनिवार्य परिणाम है । पर वासना को नियंत्रित करने का यह उद्देश्य एक साधन भी है। यही अवस्था अन्य सब की है। सच तो यह है कि स्त्री-पुरुष का साहचर्य-सम्बन्ध तो जीवात्मा को प्राकृतिकप्रेरणा के कारण वाध्य होकर करना पड़ता है अन्यथा उसका लक्ष्य तो ब्रह्ममय अर्थात् आनन्दमय होना है । जिसकी तैयारी करके वह ब्रह्मचर्य आश्रम से आया है । इस दुनिये की गली से उसे विवश होकर गुजरना है, इसी लिये वह साधनरूप उक्त सभी व्यवस्थाओं का निर्माण करता है। इसी से वैदिक साम्यवाद में मानव जीवन एवं समाज निर्माण का मूलाधार प्रारम्भ में वासना स्वार्थ, एवं व्यक्तिवाद की रक्षा-पूर्ति होते हुए भी अन्त में प्रेम, उत्सर्ग एवं सामाजिक रक्षा ही मुख्योद्देश्य रहता है और वासना आदि की रक्षा-पूर्ति स्वयं प्रेम आदि का परिणाम बन जाता है । इस प्रकार स्त्री-पुरुष के सङ्गठित जीवन निर्वाह के आरम्भ के साथ ही मनुष्य के सामाजिक कर्तव्यों का जिम्मेवारी वो पालन आरंभ हो जाता है । इसी को गृहस्थ आश्रम कहते हैं।

४—गृहस्थ-जीवन का प्रधान कर्त्तव्य—समस्त समाज का समानरूप से पालन-पोषण और समग्र आवश्यकीय वस्तुओं को उत्पन्न कर आवश्यकतानुसार सब को समान भाव से न्यायपूर्वक वितरण करना है। इस आश्रम के समुचित संगठन और सफलता पर ही अन्य आश्रमों की सफलता निर्भर है । इसमें किंचित् भी कर्तव्य-च्युत होने पर जीवन के प्रत्येक-क्षेत्र में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है । वैदिक-समाज के निर्माताओं ने इस आश्रम पर इसीलिये कठोर नियन्त्रण रक्खा, प्रत्येक गृहस्थी के लिये विविध-कर्तव्यों का अनिवार्य विधान किया । जिसको "यज्ञ" आदि कर्मकाण्ड कहते हैं। ताकि मनुष्य की दुर्बल-वृत्तियां उसे विचलित न कर दें जिससे समाज में सर्वत्र हाहाकार मच जावे ।

यज्ञ का अर्थ कोरा हवन और तोतारटन्त मन्त्रपाठमात्र नहीं इसका अभिप्राय तो देवपूजा, संगतिकरण, दान और उत्सर्ग है। देवपूजा-दिव्यगुणों से युक्त आप्त-विद्वान तथा दिव्यगुण वाले पदार्थ अग्नि आदि का नैसर्गिक-नियमानुकूल समुचित उपयोग और स्वानुकूल रखना है। संगतिकरण-अपने व्यक्तिगत एवं समष्टिगत जीवन में उनको यथायोग्य स्थान प्रदान कर उनके उचित साहचर्य द्वारा लाभ उठाना है। अग्निदेव की पूजा और संगतिकरण का मतलब हाथ सेकना रोटी पकाना है, मशीन आदि चलाना असंख्य भेद हैं। दान देने को कहते हैं। समाज के सभी व्यक्ति सब को कुछ न कुछ आवश्य देते हैं और सभी अपनी जरूरत भर ही लेने या रखते हैं। सदा देने की अभिलाषा से सभी सम्पन्न, तृप्त और सब प्रकार से पूर्ण रहते हैं। इस लेन-देन से ही समाज का निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में दान का अर्थ विनिमय ( एक्सचेंज ) है, पर फल पुरस्कार और बदले आदि की भावना से शून्य। वैदिक-समाज में तो परमार्थ में ही स्वार्थ की सिद्धि होती है। इसी आधार पर विनिमय-व्यापार तथा सम्पत्ति आदि का विभाजक-नियम बना है। इससे समाज में किसी प्रकार की विषमता उत्पन्न ही नहीं होता। जहां सभी व्यक्ति देने की ही इच्छा रखते हों—वहां पूंजीवाद और साम्राज्यवाद कैसा ? इसकी उत्पत्ति तो क्षुद्र व्यक्तिगत मुनाफों, स्वार्थ-परता और एक दूसरे के लूट खसोट के कारण होता है। विशुद्ध-विनियम में अमीर-गरीब का अस्तित्व कहां ?

पूर्व वर्णित देव पूजा, सङ्गतिकरण और दान का परस्पर एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और इन सब का पूरा होना उत्सर्ग पर अवलम्बित है। प्रत्येक यज्ञ में इन सब का होना जरूरी है, चाहे वह "राजसूय यज्ञ" ( राज्योन्नति ) हो या और कुछ ! वैदिक-साहित्य में तो सैकड़ों प्रकार के यज्ञों का विधान है। गहरी दृष्टि से देखने पर वैदिक समाजवादी आर्य का जीवन ही यज्ञमय होता है। यज्ञ शून्य जीवन जीवन

नहीं। अस्तु, गृहस्थाश्रम प्रवेश करते ही प्रत्येक आर्य दम्पति के लिये यज्ञ अनिवार्य हो जाता है। उन यज्ञों में पंचमहायज्ञ का पालन सब का प्रथम कर्त्तव्य है। जो सामाजिक सङ्गठन और सुख शान्ति का एकमात्र कारण है। वो ये हैं:—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्यदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ।

ब्रह्मयज्ञ—का अभिप्राय है ब्रह्म अर्थात् आनन्द प्राप्तिहित तदनुकूल देव पूजा सङ्गतिकरण और दान करना। ब्रह्मयज्ञविधि में इसी का क्रमशः विषद-विधान है। एक तरह से इसमें जीवन भर की दैनिक दिनचर्या का निरुपण किया गया है। जिसका दोनों काल प्रभु के समक्ष सम्यक् प्रकार से ध्यान कर लेखा-जोखा मिला लेना सब के लिये जरूरी है। यह तो जीवन का पथप्रदर्शक चार्ट है, जो आनन्दमय होने का निर्देश करता है। यह केवल आँख मूंद कर रटने की ही वस्तु नहीं। विस्तार-भय से यहाँ अधिक इस विषय पर न लिखकर शीघ्र ही एक स्वतन्त्र पुस्तिका के रूप में पाठकों की सेवा में इस विषय पर अपने विचार भेंट करूँगा।

देवयज्ञ—जड़ और चैतन्य देवों का नैसर्गिक-नियमानुकूल-समुचित उपयोग है। इन देवों की पूजा, सङ्गति और दान द्वारा ही बड़े २ कल-कारखानों का संचालन, रेल-तार, मोटर-जहाज और विविध-आवश्यकीय वस्तुओ का उत्पादन तथा हमारे धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक-जीवन का निर्माण, संस्कार और परिचालन होता है। अग्निहोत्र इसी का दूसरा नाम है जो समाज हित अपने आप को होमने का पाठ पढ़ाता है और सर्वस्व स्वाहा कर के भी कहता है—"इदन्नमम्।"

पितृयज्ञ—ऋषि के शब्दों में श्राद्ध और तर्पणको कहते हैं। जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाय उसको "श्रद्धा" और जो श्रद्धा से कर्म किया जाय उसका नाम "श्राद्ध" है। जिन कर्मों से विद्यमान माता-पिता प्रसन्न और तृप्त हों, या किये जांय; उनका नाम तर्पण है। इसके

लिये जिन देवों की पूजा, सङ्गति और दान किया जाय—उसे "पितृयज्ञ" कहते हैं। इससे समाज के वृद्ध वर्गों की सेवा, पालन और निर्वाह के अतिरिक्त नवागन्तुक दम्पति को जीवन-पथ पर बढ़ने में सहायता और अपने उत्तरदायित्व का परिचय भी मिलता है।

बलिवैश्य देवयज्ञ—पार्श्ववर्ती प्राणियों के पालन,-पोषण और रक्षण को कहते हैं। मनुष्य-समाजिक प्राणी है। उसके समाज में केवल मनुष्य ही नहीं प्रत्युत मानवेतर प्राणियों का भी विशाल समूहवास करता है। वह उनके बिना अपनी रक्षा, उन्नति और पालन नहीं कर सकता है। इसलिये उसे सब की जिम्मेवारी वहन करना पड़ता है।

अतिथि यज्ञ—अपने यहाँ आये हुए लोकोपकारी, विद्वान्, समाज सेवक की सेवा-पूजा और संगति आदि करना है। उसके सत्योपदेश, ज्ञानविज्ञान एवं हितकारी-अनुभवों से लाभ उठाना—इस यज्ञ का मुख्या-द्देश्य है। साथ ही इससे पर्य्यटक, परिव्राजक और देश-विदेश में समाजहित कार्य करने वालों की सरलता से प्रबन्ध हो जाता है।

इस तरह यह पाँचो महायज्ञ केवल गृहस्थ दम्पति के लिये ही नहीं बल्कि प्रत्येक राष्ट्र और समाज के लिये भी अनिवार्य है। कारण वह भी तो मनुष्य का एक विशाल जीवन ही है। जब से इन यज्ञों का वास्तविक रूप लोप हुआ तब से समाज नरक का खान बना। ऊफ! आज इनका विकृत रूप देख कर प्राचीनता से किसे घृणा न हो जायगी?

६—श्रमकारों का संगठन— वैदिक समाजवाद में सामाजिक-गठन का महत्व केवल यही नहीं है कि उसके द्वारा मनुष्य के व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन की समान रूप से सर्वव्यापी रक्षा उन्नति एवं विकास होता है प्रत्युत उसकी विशेषता इस बात में है कि उससे मनुष्य की दुर्बलता एवं ऐषणाओं पर भी कठोर नियन्त्रण रहता है। ताकि ये उग्ररूप धारण कर समाज में सर्वत्र विकृति और विश्रृङ्खलता न उत्पन्न कर दें। ये ऐषणायें तीन हैं-लोकैषणा पुत्रैषणा और वित्तैषणा। प्रायः मनुष्य की

सभी दुर्बलताओं के मूल में इन तीनों का कुछ न कुछ हाथ जरूर रहता है । इ ीलिये वैदिक समाज में इन्हें हानि की दृष्टि से देखा है । क्योंकि मानव जीवन के प्रारम्भ में इन्हें सर्वथा विनष्ट नहीं किया जा सकता और न ऐसा करने में कल्याण ही है । इन्हींके द्वारा पुरुषार्थ और कार्यशक्ति में प्रेरणा प्राप्त होती हैं । अतएव इन्हें विविध विधानों से नियंत्रित कर निम्न श्रेणी प्रदान करना ही उचित है । जिससे वैयक्तिक और सामाजिक विधान के पालन एवं सर्वव्यापी उत्कर्ष में कोई विघ्न-बाधा उत्पन्न न हो, साथ ही ऐषणाओं की तृप्ति और सामान्य एवं विशेष नियमों का निर्माण भी इस ढंग से किया गया है कि ये एक दूसरे के घातक न होकर परस्पर सहायक सिद्ध हों, और कोई भी मर्य्यादा का उलंघन न कर सके ।

प्राचीन ऋषियों ने देखा—यौवनावस्था में ही ऐषणायें प्रायः प्रबल हो उठती हैं । जिससे कहीं समाज का सर्वनाश होता है तो कहीं व्यक्तित्व का । इस भाँति मानव जीवन कष्ट का क्रीड़ा क्षेत्र बन जाता है । इस लिये उन्होंने गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करते ही सब से पहले स्त्री-पुरुष के विषय-वासना पर विविध प्रतिबन्ध लगा पुत्रैषणा को मर्यादित किया है, तथा अन्य ऐषणाओं के नियंत्रणहित इस आश्रम में किया है वर्णव्यवस्था का निर्माण । इसमें वित्तैषणा और पुत्रैषणा को ही विशेष रूप से मर्यादित किया गया है और लोकैषणा पर विजय पाने की तैयारी की गई है । जो इन तीनों ऐषणाओं पर विजय पा लेता उसी के हाथ में समाज का नेतृत्व और नियंत्रण रहता है । वर्णव्यवस्था से मेरा अभिप्राय विभिन्न श्रमविभागों का सामूहिक संगठन है, प्रचलित वर्णव्यस्था नहीं यह तो मरण-व्यवस्था हो रही है ।

प्रत्येक मनुष्य में भिन्न भिन्न प्रकार की शक्ति और योग्यताएँ होती हैं, वैदिक-समाज के संचालक उसके गुण, कर्म और स्वभावानुसार उसे समाज में यथायोग्य स्थान पर नियोजित कर देते है । इस प्रकार समस्त

श्रमकारों के विभिन्न विभागों के सामूहिक संगटन हित ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र-इन चार विभागों का निमाण किया गया। जिन श्रमकारों की योग्यता एवं कार्यशिक्षा, विज्ञान और नेतृत्व आदि से सम्बन्धित है, उन्हें ब्राह्मण समुदाय के अन्तर्गत सङ्गठित किया जाता है और जिन में रक्षा और शासन आदि से सम्बन्धित योग्यता है उन्हें क्षत्रिय विभाग में। तदनुसार ही जिनमें विनिमय आदि से संबंधितशक्ति और योग्यता है, उन्हें वैश्य और जिनमें शारीरिक श्रम आदि कठिन कार्यों से सम्बन्धित हैं उन्हें शूद्र विभाग के अन्तर्गत संगठित किया जाता है। जब तक जो व्यक्ति जिस काम को करता है, तभी तक उस विभाग का अंग माना जाता है, बाद में नहीं। कार्य का चुनाव उसकी इच्छा पर निर्भर है, वह परिवर्तन करने में स्वतंत्र है। समाज का कोई सदस्य पैतृककार्य करने के लिये वाध्य नहीं और न पैतृक सम्पत्ति, पद और अधिकार का हकदार ही है। ये सब तो उसकी शक्ति, योग्यता और गुण कर्म स्वभाव पर निर्भर हैं। साथ ही इनमें कार्य भेद से कोई छोटा या बड़ा नहीं, कोई ऊंच या नीच नहीं-सब अमृतपुत्र हैं सब भाई-भाई हैं। सभी समाजहित अपने २ कर्तव्य का पालन करते हैं, व्यक्तिगत मुनाफा के लिये नहीं प्रत्युत कर्म फल को ईश्वरार्पण कर, अपना फर्ज समझ कर करते हैं सबके सन्मुख-"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ६ समाः" का प्रेरक विधान एवं कठोर ईश्वरीय आज्ञा है। सब मिलकर एक परिवार सदृश्य अपनी समस्त आवश्यकीय वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, और सब समान रूप से सामूहिक आवश्यकता के मुताबिक परस्पर आपस में बांट लेते हैं। इनके विनिमय व्यापार तथा श्रम पुरस्कार का आधार उत्पादन (प्रोडक्शन) और मांग (डिमाण्ड) नहीं बल्कि आवश्यकता की पूर्ति है। इसके अतिरिक्त वस्तु एवं श्रम का विनिमय, वितरण तथा मूल्य आंकने की सुन्दर व्यवस्था हो ही नहीं सकती है। कारण सप्लाई और डिमांड को तो घटाया बढ़ाया जा सकता है, इसके द्वारा न्यायोचित बटवारा सम्भव

नहीं। इसके अलावा जब पूंजी, और उत्पत्ति के साधन एवं वितरण पर समाज का अधिपत्य हो जाय, तब इस व्यक्तिगतस्पर्द्धा की जरूरत ही नहीं रह जाती, तथा पूँजी पर एकाधिपत्य होने पर समाज का कल्याण नहीं। वर्तमान व्यवस्था तथा इतिहास इसकी स्पष्ट साक्षी है! इसलिये वैदिक-समाजवाद में आवश्यकतानुसार ही किसी वस्तु को लेने या रखने का सब को अधिकार है। कोई पराम-भोजी और संचय करने वाला नहीं। सभी के आगे—"तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" का पवित्र आदर्श है। इस वैदिक-विधान के अनुसार चलने में किसी को असुविधा नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को गृहस्थ-भोग केवल पच्चीस वर्ष के लिये ही मिला है, पश्चात् उसे सब कुछ त्याग कर वानप्रस्त आश्रम में जाना जरूरी है। गृहस्थ में भी सब की सन्तान का लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध समाज द्वारा संचालित गुरुकुल ( शिक्षणालय ) में होता है। गृह में स्त्री-पुरुष के ऊपर केवल अपना ही उत्तरदायित्व रहता है, बच्चों का झंझट नहीं। ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर गृहस्थ में प्रवेश करते समय गुण कर्म और स्वाभावानुसार ही उन सन्तानों को समाज से सुविधा, साधन और अधिकार—स्थान मिलता है—जन्म के नहीं। ऐसी स्थिति में भला लूट-खसोट कर संचय करने की क्या जरूरत?

अतएव इस भांति मनुष्य की सारी ऐषणायें और दुर्बलताओं को नियंत्रित कर दिया जाता है। मानव शरीर की तरह समस्त श्रमकारों का परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध होने से तथा परस्पर पराश्रित होने से कोई किसी का शोषण-शासन नहीं कर सकता और न घृणा अहङ्कार एवं लोलुपता का ही उद्भव होता है। इससे एकही व्यक्ति के हाथों में ऐश्वर्य, अधिकार और प्रतिष्ठा एवं भोग केन्द्रीभूत नहीं होता। सभी को गुण, कर्म स्वाभावानुसार समानरूप से सभी भोग उचित सीमा तक प्राप्त होता है। एक दम स्वच्छन्दाधिकार नहीं। सब की आवश्यकता की पूर्ति समाज करता है। शेष सम्पत्ति पर तथा अन्य सभी वस्तुओं पर समाज का

सामूहिक अधिकार रहता है । सब का कर्तव्य · ड्यूटी ) इस तरह से बना हुआ है—सब पर एक दूसरे का नियंत्रण रहता है । इसका उदाहरण किसी भी बैंक या लिमिटेड कम्पनी हमें स्पष्ट मिलेगा । जहां व्यक्ति का व्यक्तित्व सामगृजिक शृङ्खला में आवद्ध अपना निश्चित वेतन लेकर कार्य करते नजर आते हैं । सब ये पारस्पारिक अनुशासन से सगठित जीवन एवं कार्य में कोई गड़बड़ी नहीं हो पाती । बड़ी २ राजसत्ता, म्युनिसिपैलिटी और अन्य व्यवसाय एवं व्यवस्था का संचालन इसके जीते जागते प्रमाण हैं। सर्वत्र प्रत्येक व्यक्ति अपना २ कार्य अपने क्षेत्र में आजादी के साथ ही तो करता है, चाहे वह अच्छा करे या बुरा ! उसी पर तो उसका उत्तरदायित्व रहता है ? पर इसमें कितने अनुत्तीर्ण होते हैं ? क्यों ! सामाजिक नियंत्रण के ही कारण तो ?

७—वैदिक-साम्यवाद में अनिवार्य कर्त्तव्य–दस हैं । जिसे यम-नियम कहते हैं । जहां प्रत्येक आश्रम एवं वर्ण के लिये पृथक पृथक विशेष २ कर्तव्यों का अनिवार्य विधान है, वहां समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये समानरूप से "यम और नियम" का पालन भी जरूरी है । कारण इसके पालन बिना पूर्व वर्णित विधानों का स्थायित्व नहीं। इतिहास में कई बार क्रान्तियों के पश्चात् वैदिक-समाजवाद या उससे सम्बन्धित विधानों की स्थापना हुई, पर सामान्यकर्तव्य "यम-नियम" के अभाव के कारण पुनः समाज की सभी व्यवस्था पूर्ववत हो गईं । इसी से वैदिक-साम्यवाद में इसका अनिवार्य विधान है । विशेषकर यम का पालन तो हर-हालत में लाजिमी है । क्योंकि इसके द्वारा प्रत्यक्ष सामाजिक हितों की रक्षा है । इसमें ढोंग आडम्बर की गुञ्जायश नहीं और इसके बिना सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन एवं व्यवस्था का संचालन भी सर्वथा असम्भव है । इसीलिये मनु भगवान ने कहा है:—

यमान् सेवेत सततं न नियमान केवलान् बुधः ।

अर्थात् बुद्धिमान व्यक्ति केवल नियमों का ही सेवन न करे, बल्कि

यमों का भी अनिवार्यरूप से इसके साथ निरंतर पालन किया करे; जो कि पांच प्रकार के हैं।

(क) सत्य—मन, बुद्धि और आत्मा जिसको जैसा समझे उसको वैसा ही मानना, बोलना और करना है—तब तक, जब तक वह मिथ्या न सिद्ध हो जाय। सत्यासत्य के निर्णय का इससे अधिक न्यायोचित कसौटी और क्या हो सकती है ? मानव-जीवन तो ज्यों २ बीतता जाता है, त्यों २ उसे भूत-काल स्वप्न सदृश्य असत्य और अपूर्ण भाषित होता है। ऐसी स्थिति में किसी वस्तु के सम्बन्ध में सत्य-ज्ञान होने का अधिकार पूर्ण दावा करना एक धृष्टता होगी। इसलिये सत्य जानने के लिये उपरोक्त कसौटी ही ठीक प्रतीत होती है। सच तो यह है मानव अल्पज्ञ और उसकी शक्ति सीमित है। अतः उसके लिए सत्य को प्राप्त करना असम्भव नहीं तो सम्भव कहना भी कठिन है। केवल उसके अन्तर में उत्थित सत्य-प्राप्ति की जिज्ञासा से ही उसके जीवन में आशा की एक लघुकाय क्षीण ज्योति टिमटिमाती रहती है।

(ख) अहिंसा—मन, वचन और कर्म से किसी का अहित न करना है। जैसे भी हो समस्त प्राणियोंकी भलाई में इर्षा-द्वेष और घृणा-अहंकार से रहित होकर लगे रहना। सदा अल्प-सख्यकों की रक्षा करते हुये बहु-जनसमाज का हित साधन में तत्पर रहना। पर, इसका अभिप्राय यह नहीं कि दुष्टों को दण्ड आदि द्वारा सुधारा भी न जाय, सच तो यह है—राग-द्वेष से शून्य हो कर दुष्टों की दुष्टता और अत्याचारियों का अत्याचार छुड़ाना ही उसके प्रति सची दया एवं अहिंसा का पालन है; चाहे वह जिन साधनों द्वारा जैसे भी किया जाय। यह तो हालत पर निर्भर है। डाक्टर फोड़े को चीरता भी है और दवा द्वारा स्वयं फोड़ कर बहा भी देता है। किन्तु डाक्टर का लक्ष्य महान् है, भावना पवित्र है, भले ही रोगी उस पर पाशविक अत्याचार क्यों न करें।

मेरी समझ से तो अहिंसा का अर्थ कायरता नहीं, इससे तो हिंसा लाख गुणा श्रेष्ट है। मरघट की शान्ति से युद्ध की क्रांति हर हालत में

अच्छी है। इस दृष्टि से मैं अहिंसा को एक मानवी सिद्धांत मानता हूँ--साधन नहीं। इसका वास्तविक पालन तो शक्ति-सम्पन्न अवस्था में ही सम्भव है, दुर्बल व्यक्ति इसका कदापि पालन नहीं कर सकते। हिंसा का प्रयोग प्रायः कमज़ोर हालत में ही कोई प्राणी करता है;चाहे वह कमज़ोरी नैतिक हो अथवा अन्य किसी प्रकार की ? इसी से महापुरुषों ने हिंसा से अहिंसा को श्रेष्ठ माना है। राष्ट्र के लिये ग्राम्य कावलिदान हिंसा नहीं—उत्सर्ग कहा है।

(ग) अस्तेय—मन, वचन और कर्म से सब प्रकार की चोरी का परित्याग को कहते हैं। चोरी अनजाने में या बलपूर्वक किसी व्यक्ति की इच्छा के प्रतिकूल उसकी अपनी कही जाने वाली वस्तु को उठा या छीन लेने को ही नहीं कहते, अपितु किसी भी प्रकार से दूसरे की श्रम-शक्ति अपने स्वार्थहित व्यय करने को कहते हैं। इतना ही नहीं प्रत्युत सामाजिक आवश्यकता की उपेक्षा कर केवल अपनी क्षुद्र स्वार्थ को पूरा करना भी चोरी है। परन्तु न्यायोचित विनियम को चोरी नहीं कहते बल्कि विनिमय में थोड़ा दे कर बहुत लेने को चोरी कहते हैं। आजकल पूंजीवाद की निकम्मी व्यवस्था में यदि कोई श्रमकार, बेकारी से तङ्ग आकर, भूख से विकल होकर, विपन्नावस्था में किसी दुकान से दो रोटियां चुपके से उठाकर खा जाय तो कानून उसे वर्षों की सजा देती है, पर दिन दहाड़े खुले बाजार सूद-ब्याज, व्यावसाय-वाणिज्य तथा ऊंचे २ पदाधिकारी बन मोटी २ तनख्वाहों के रूप में एक दूसरे का एवं भोले भाले बेबस समाज का जो लूट-खसोट करते रहते हैं; कानून उनकी रक्षा करती है। खूब ! न्याय की कैसी विडम्बना है !

क्या एक छोटे बच्चे को दो पैसे की मिठाइयों पर फुसला कर उसके सोने का कड़ा ले लेना चोरी नहीं है ? चाहे भले ही लड़के ने अज्ञानता-वश स्वयं उतारकर क्यों न दे दिया हो ! फिर अभागे किसान-मजदूरों को न्याय, धर्म और व्यापार-व्यवस्था की उलटी-सीधी बातें बता उनकी पसीने की गाढ़ी कमाई को लूट-लूट कर मौज से गुलछर्रें उड़ाना और

ऐय्याशी का जीवन गुजारना चोरी और डाका क्यों नहीं ? क्या आज पूँजीवादी, साम्राज्यवादी और साम्प्रदायवादी पूर्वोक्त अनाचार नहीं कर रहे हैं ? पर कानून उन्हें कब आज तक सजायें दी ? आज तो जो भोले भाले लोगों को फुसला कर धर्म के आड़ में चन्दा के बहाने खूब लूट लायें, व्यापार के नाम पर मुनाफा कह कर डाका डाल लाये, शान्ति, सुव्यवस्था और रक्षा न्याय की ओट में अधिक से अधिक टैक्स आदि के रूप में असहायों की कमाई छीन लाये या दोहन कर आये - वहीं सब से कुशल, योग्य और महान् धर्म प्रचारक, व्यापारी और राज-कर्मचारी माना जाता है। इतना ही नहीं—लोगों को अपनी कमाई भेंट करने के लिये बाध्य कर दे - सब की सम्पत्ति अपहरण कर देखते २ अरबपति बन जाय फिर भी वह चोर-डाकू नहीं। उफ ! इसे सभ्यता का विकास कहें या अमानुषिकता का नर्तन ? किसी ने सच कहा है — 'सम्पत्ति और मुनाफा तथा संग्रह और जरूरत से अधिक खर्च का ही नाम चोरी है।"

(घ) ब्रह्मचर्य—इन्द्रियों का संयम एवं वीर्य की रक्षा और ब्रह्म में विचरण करने को कहते हैं। इसी में जीवन की रक्षा और सफलता है। यह सर्वथा भ्रममूलक बातें हैं कि युवावस्था में स्त्री पुरुष के स्वास्थ्य की सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति के लिये यौन-क्षुधा की निवृत्ति अनिवार्य्य है। वीर्य को व्यय न करने से मानसिक-विकास की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है।" सच तो यह है कि यौवनावस्था में श्रम के अभाव के कारण ही उक्त दोष का उद्भव होना सम्भव है। क्यों कि इससे शक्ति आवश्यकता से अधिक संचित हो जाती है, जिसे शरीर रूपी टकी वहन नहीं कर सकती। इसके फलस्वरूप अनेक मानसिक रोगों का उद्भव होता है। यदि प्राप्त नैसर्गिक शक्ति को मनुष्य विभिन्न लोकोपयोगी कार्यों द्वारा खर्च करता जाय तो कोई भय का कारण नहीं। यौन-सम्बन्ध तो दैवी-शक्ति के व्यय का सब से निकृष्ट साधन है। मानव-जीवन के विकास में स्फूर्ति एवं गति उत्पन्न करने के लिये स्त्री पुरुष का पवित्र साहचर्य, सात्विक मनोरंज और भ्रमण आदि जरूरी है। वीर्य नाश से तो जीवन

एवं राष्ट्र का विनाश सुनिश्चित है। ऐसा करने से न तो ब्रह्म अर्थात् आनन्द में विचरण सम्भव है और न जीवन का स्थायित्व ! नैतिकता की रक्षा बिना किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं और न समाज को शान्ति, सुव्यवस्था एवं शक्ति-सम्पत्ति की वृद्धि ही है।

(ङ) अपरिग्रह—सामाजिक आवश्यकता से अधिक अपने पास किसी भी वस्तु का न संचय करना है। एक अपरिग्रही संसार के सभी चीजों को ईश्वर का समझता है। वह उस पर अपना एकाधिपत्य नहीं स्थापित करता—बल्कि वह तो अपने पुरुषार्थ से प्राप्त पदार्थों में भी सामान्य जरूरत भर ही अपने पास रखता है, शेष सोसाइटी को दे देता है। प्रथम जब प्राकृतिक-पदार्थों पर व्यक्तिगत अधिकार न रहा और किसी की श्रमशक्ति का अपहरण अपराध माना गया तभी विषमता और दासता का मूलोच्छेद हुआ, परंतु शेष रहा सहा कसर इस अपरिग्रह ने दूर कर दिया। दुनिये में पूञ्जीवाद के उत्पन्न होने का प्रधान कारण उक्त तीनों नियमों की उपेक्षा है। जब संचय की इच्छा मनुष्य में पैदा हुई तभी उसने चोरी करना सीखा और प्राकृतिक चीजों पर भी अन्याय पूर्ण रीति से अधिकार जमाने लगा। मुनाफा लेने की लोलुपता बढ़ी, व्यक्तिगत और पैतृक-सम्पत्ति का निर्माण हुआ और हुआ न्याय, भ्रातृत्व एवं मानवता की छाती पर पाशविक शोषण-शासन का निर्लज्ज तांडव नृत्य !

तभी तो आज मशीन आदि के अविष्कार के कारण हजार गुणा पैदावार बढ़ जाने पर भी कोटि २ नरकंकाल चारों तरफ अभाव के शिकार होकर तड़पते नज़र आते हैं। लाखों अन्न-वस्त्रहीन हा रोटी ! हा वस्त्र !! चिल्लाते हुए ठंड में ठिठुर ठिठुर कर भूख से कराहते हुए असमय में ही कालकवलित होते हैं। क्यों ? इस परिग्रह के प्रताप से ही तो ? एक तरफ पूञ्जीपतियों के पास इतनी सम्पत्ति और अन्न आदि का ढेर संचित पड़ा है कि उसे पता नहीं चलता कि इसे क्या करें और दूसरी ओर मुट्ठी २ भर अन्न के लिये असंख्य मानव समूह को पापी पेट के लिये

चोरी, व्यभिचार और हत्या जैसे कुकृत्य में विवश होकर प्रवृत्त होना पड़ता है। आज यदि प्रत्येक देश की सरकारें तथा समाज बलपूर्वक या अन्य किसी उपाय द्वारा सञ्चय करना बन्द करा दें तो उसी क्षण संसार से सब पापाचार और दुःख आदि मिट जाय, साथ ही ममत्व के कारण जो मनुष्य को दुख मिलता है, उसका भी उन्मूलन हो जाय।

पांच यम की तरह पांच नियम भी मानव जीवन के लिये आवश्यक घोषित किया गया है।

(च) शौच—यह दो प्रकार का है, आन्तरिक और बाह्य। मन, बुद्धि, चित्त और आत्मादि की शुद्धि आन्तरिक और शरीर, स्थान, भोजन-वस्त्र, एवं विविध बाहरी वातावरणों की शुद्धि बाह्य शौच कहलाता है। ये सब दैवीजीवन को बनाने वाले हैं। इनके बिना आध्यात्मिक उन्नति असम्भव है। शुद्धि का अर्थ केवल चोटी-जनेऊ रखना ही नहीं प्रत्युत सात्विक जीवन को अपनाना है और यह तब तक सम्भव नहीं जब तक उक्त वर्णित सभी चीजों की क्रमशः शुद्धि नहीं होती। इनमें एक की भी गड़बड़ी हो तो दूसरे को शुद्ध रहना कठिन हो जाता है।

(छ) सन्तोष— यथाशक्ति भली भांति किये गये पुरुषार्थ-परिश्रम द्वारा प्राप्त फल को हर्ष शोक से रहित होकर निष्काम भाव से भोग करना है। पर अकर्मण्य होकर पड़े रहना, संतोष नहीं आलस्य और नपुंसकता है। जैसा कि आज भारत में सर्वत्र देखा जाता है। दिन रात सर्वत्र अन्याय, अत्याचार और भांति २ के हृदयविदारक अमानुषिक कांड सत्ताधारियों द्वारा होता है, पर आप मुर्दा की तरह सब कुछ सहन कर रहे हैं। इससे छुटकारे का प्रयत्न करना अथवा जरा भी हाथ पैर हिलाना, शान्ति और संतोष का गला घोंटना है। जब कभी भी आप किसी भारतीय को पुरुषार्थ द्वारा अत्याचार से मुक्त होने की प्रेरणा करें—वह झट बोल उठेगा, "—ईश्वर मुझे संतोष का फल देगा, सब्र का फल मीठा होता है। यह हमारे कर्मों का फल है, भाग्य

का खेल है। हमें इसे भोगना ही होगा, इसके विरुद्ध विद्रोह—ईश्वर और धर्म का द्रोह है। इसलिये हमें संतोषपूर्वक सब कुछ सहन करना चाहिये आदि।" इस प्रकार संतोष का विकृत रूप ही भारत तथा भारतीय श्रमकारों की उन्नति और उद्धार में सब से बड़ा आज बाधक हो रहा है। यही इनके दुखों को स्थायी बनाने वाला है। यह तो वह बीमारी है जो रोगी को अपना गला आप दबा कर मरने के लिये बाध्य करती है। यही कारण है कि रूस, फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों की भांति भारतियों में अपनी मुक्तिहित प्रलयङ्कर क्रांति की ज्वालाएं आज तक सन् संतावन के अतिरिक्त और कभी नहीं भड़की और न अपने नारकीय जीवन के प्रति घृणा एवं क्षोभ ही उत्पन्न हुआ। सदा सभी यही पाठ करते रहे—

"राम भरोसे मौज से रहो खाट पर सोय।
अनहोनी होनी नहीं होनी होय सो होय॥

ऊफ! ऋषिकृत सिद्धान्तों का कैसा दुरुपयोग है?

(ज) तप—कठिन कामों के करने को कहते हैं। यथा—सच बोलना तो सामान्य कर्तव्य है, पर मधुर-सत्य बोलना यह एक कठिन काम है, इसलिये यह तप है। इतना ही नहीं बल्कि देश जाति और संसार के कल्याणार्थ महान् से महान् कष्ट सहन करना और बड़ी से बड़ी आपत्ति आने पर भी कर्तव्यपथ से विचलित न होना तप है। तप निरर्थक कामों द्वारा कष्ट सहन कर जीवन बर्बाद करने को नहीं कहते—जैसा कि कुछ ढोंगी-साधु आदि बाजारों में करते देखे जाते हैं। तप तो राष्ट्रहित महर्षि दयानंद, महात्मा गांधी और तरुण-हृदय-सम्राट पं० जवाहर के कष्ट सहन को कहते हैं।

(झ) स्वाध्याय—विभिन्न विषयों के नियमित अध्ययन का नाम है। इसके बिना न तो ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि और विकास ही है, और न कर्तव्याकर्तव्य का बोध ही होना सम्भव। इसका मतलब बिना समझे-बूझे किसी पुस्तक का तोतारटन्त पाठ नहीं और न आज कल के

गन्दे २ उपन्यास एवं कविता-कहानियों की पुस्तकें, निर्लज्ज प्रणयाभिनय को प्रकट करने वाले लेख एवं चित्रों सहित प्रकाशित पत्र पत्रिकायें तथा व्याकरण के पाठ करने से ही है। इसका स्पष्ट अभिप्राय तो जीवन की जरूरियात को पूरा करने वाले सभी आवश्यक विषयों की पुस्तकों का अध्ययन करना है। जिससे हमारा व्यक्तित्व, आचरण एवं व्यवहारिक जीवन उच्च एवं महान् बन सकें और कर सके कर्तव्य-पथ पर नैतिक-नेतृत्व।

(व) ईश्वर-प्रणिधान— अपनी आत्मा को तथा जीवन के सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मों को ईश्वर भक्ति से ओत-प्रोत रखना अर्थात् उसको अर्पण कर तदात्म करना है। परंतु जब मनुष्य के पूर्व वर्णित सभी कर्म ठीक रूप में पालन होंगे, तभी इस अन्तिम कर्तव्य की भी पूर्ति सम्भव है और जब तक यह व्रत का नियम वास्तविकरूप में न पालन हो तब तक अन्य सभी कर्तव्यों का शुद्धरूप में स्थिर रहना गैर मुमकिन है। इसी से शास्त्र-कारों ने पूर्वोक्त क्रम से कर्तव्यों का विधान किया है। महर्षि दयानंद के शब्दों में:—"यमों के बिना केवल इन नियमों का सेवन न करे, किंतु इन दोनों का (साथ साथ) सेवन किया करें। जो यमों का सेवन छोड़ के केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है।" कारण स्पष्ट है! व्यक्तिगत कर्म से सामाजिक कर्म श्रेष्ठ और अनिवार्य है।

इस प्रकार वैदिक-साम्यवाद मनुष्य की सारी दुष्प्रवृत्ति एवं ऐष्णाओं को नियंत्रित कर देता है। ताकि वे उच्छृङ्खलता का रूप न धारण कर लें। इसी से वैदिक समाजवादी का आर्य-जीवन तप, त्याग एवं समाज-मय होता है। भला जिसने प्रारंभिक जीवन का सारा भाग कठोरतापूर्ण सामाजिक रूप में विताया हो, उसे अस्थायी गृहस्थ का मोहफाँस कैसे बांध सकती है। उस पर भी जब उसके ऊपर जबर्दस्त सामाजिक नियंत्रण हो, जो उसे एक निश्चित अवधि के बाद पृथक करने के लिये सदा तैयार

खड़ा हो। सच तो यह है कि वैदिक-समाज का गठन भोग-विलासिता के आधार पर नहीं हुआ प्रत्युत तप, त्याग और बलिदान के बुनियाद पर हुआ है। इसके बिना समाज में स्थायी समता, स्वतंत्रता और विज्ञान का विकास संभव नहीं। ये जितनी मात्रा में जहां होगी वहां उतनी ही सफलता मुमकिन है। पाश्चात्य साम्यवादी-आंदोलन इसकी साक्षी है। लेलिन समस्त संसार को अपना देश समझता था। यह विश्व-प्रेम और परोपकार ही साम्यवाद के सब कर्मों का मूल मकसद है।

वैदिक साम्यवाद में राजनैतिक व्यवस्था—का भी आधार धर्मही है। राजनीति धर्मसे कोई पृथक वस्तु नहीं प्रत्युत धर्मका एक अङ्ग है। पर धर्म का अर्थ सम्प्रदाय या मत-मतान्तर नहीं। राजनीति तो धर्मका वह अङ्ग है जिससे समाज में शान्ति, सुव्यवस्था कायम रहती है। राज्यधर्म का कार्य प्रजा का पालन और अनुष्ठान है। आजकल की तरह शोषण-शासन नहीं। धर्म को राजनीति से पृथक करना भूल है—यह सम्भव भी नहीं। यह तो पाश्चात्य देशों में पोपों के प्रभुत्त्व को कम करने का एक ढङ्ग था—अन्यत्र उनका अनुकरण ही हुआ है। पर भारत में इसके विपरीत स्थिति है। यहाँ धर्म को लोग मज़हब नहीं समझते, इसलिये यहाँ धर्म से राजनीति पृथक भी नहीं हो सकती। वर्तमान युग में महात्मा गान्धी ने इसे खूब स्पष्ट कर दिया है।

वैदिक समाज में राजनैतिक गठन का रूप "प्रजातन्त्र" है। राजा का अर्थ सभापति है। वह जनता द्वारा निर्वाचित होता है। उसके नीचे कई सभायें कार्य करती हैं, जिसमें समाज प्रतिष्ठित लोकसेवक निर्वाचित होकर कार्य करते हैं। यहाँ सभापति अर्थात् राजा का स्वच्छन्दाधिकार नहीं प्रत्युत उसपर प्रजा का अंकुश रहता है। महर्षि दयानन्द के कथनानुसार—"किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिये। जैसे सिंह वा मांसाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु मार कर खा लेते हैं, वैसे स्वतन्त्र राजा-प्रजा का नाश करता है।" वैदिकसाम्यवाद में आजकल की तरह राजाओं का कोई स्थान नहीं, वहाँ "एको विश्वस्य भुवनस्य राजा" का विधान है।

सब को अदीन होकर रहने का निर्देश है। उस स्वराज्य का निरूपण है जो बहुमत द्वारा सञ्चालित होता हो, पर अल्प मत का हितैषी भी हो। रूस के जार और फ्रांस के लुई की तरह राजाओं की दशा तो राजा वेनु की तरह करने का वर्णन है। जो प्रजा का रक्त चूसकर आप मौज़ करता फिरे—ऐसे राजा को राज्य से पृथक कर उचित दण्ड देने का विधान है। महर्षि के शब्दों में जो लम्पट टेढ़ा, ईर्ष्या करने हारा, क्षुद्र, नीच बुद्धि न्यायाधीश राजा होता है— वह दण्ड से ही मारा जाता है।' अतः वैदिक-साम्यवाद में जनसमाज को दासता, विषमता और अज्ञानता से मुक्त कर वास्तविक प्रजातन्त्र स्थापित करने का विधान है। सब कोई परमपिता परमात्मा की ही प्रजा है, उफ ! आज विश्व में राजनैतिक मंच पर प्रजातन्त्र का कैसा मखौल उड़ाया जा रहा है ? नाम तो प्रजातन्त्र रखा जाता है, पर होता है धनपतियों और सत्ताधारियों का अधिपत्य ! खूब !! और वैदिक-धर्मियों का क्या पूछना ? यदि इनका वश चले तो अधिकारियों को खुश करने के लिये वेद से सारे राजनैतिक मन्त्र तत्काल निर्वासित कर दें और वेद को जप जी बना डालें। हाँ ! वैदिक समाजवाद और भारतीय राष्ट्रीयता के बीजदाता आज तुम्हारे अनुयायी कहाँ जा रहे हैं ?

९ अध्यात्मिक जीवन—का प्रारम्भ वैदिक समाज में गृहस्थ-जीवन के बाद ही होता है। यों तो शुरू से ही इसका सम्बन्ध लगा रहता है, पर गृहस्थी की समाप्ति के साथ आयु-भेद के कारण जब भौतिक वासनाएँ प्रायः शान्त हो जाती हैं, तब मानव जीवन पूर्ण रूप से अध्यात्ममय हो जाता है। पूर्व के संयमित जीवन के कारण यौवनावस्था में उत्पन्न विकार शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जीवन का तीसरा अध्याय प्रारम्भ होता है जिसे वानप्रस्त आश्रम कहते हैं इसमें मनुष्य का एकमात्र कर्त्तव्य सन्यास की तैयारी करना है, इसी तरह ब्रह्मचर्य में गृहस्थ की।

इस आश्रम में मनुष्य को जीविकोपार्जन का काम नहीं करना पड़ता, बल्कि अध्यात्मिक उन्नति करते हुये वह शेष समय में अपने अनुभव से

दूसरे रूप में समाज-सेवा करना शुरू करता है। वैदिक समाज में प्रायः शिक्षा आदि विभिन्न समाज सेवक संस्थाओं का उत्तरदायित्व इन्हीं पर रहता है, साथही गृहस्थों को सन्मार्ग भी बताते हैं और अन्त में अपनी साधना में सफल होकर सन्यास में प्रवेश करते हैं। जहाँ इन्हें सम्पूर्ण एषणाओं को जीत कर अभेद भाव से समस्त विश्व को एक परिवार मान सबकी सेवा में लीन रहना पड़ता है। अब वे सर्वत्र घूम २ कर अपने अनुभव उपदेश और आलोचना द्वारा समाज का नेतृत्व करते हैं और रहते हैं लोकैषणा, पुत्रैषणा एव वित्तैषणा से रहित सदा आनन्दमय प्रभु में लीन। कर्म काण्ड का बन्धन एव सामाजिक नियन्त्रण इनके लिये अनिवार्य नहीं तथापि ये स्वयं लोकोपकारी सामाजिक विधान को सदा पालते रहते है, पूर्वाश्रम का नियमित अभ्यास जो ठहरा। ये सार्वजनिक कार्य के लिये निर्वाचित होकर विविध सभा-सोसाइटी, बोर्ड-कमेटी और कौंसिल आदि में निःस्वार्थ भाव से कार्य करने के बड़े ही उपयुक्त होते हैं।

इस प्रकार इस वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा सब को समान रूप से अध्यात्मिक और भौतिक सुख एवं आनन्द भोगते हुए मुक्ति लाभ करने का अवसर मिलता है। सबको जीवन के प्रारम्भ में अध्ययन, फिर भोग, पश्चात् निस्स्वार्थ सार्वजनिक सेवा और अन्त में आध्यात्मिक अभ्यास आदि में लीन होकर विश्वमय होना पड़ता है। यह सार्वभौमिक सामाजिक गठन, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, अर्थ शास्त्र, शिक्षा शास्त्र आहार शास्त्र, काम शास्त्र, स्वास्थ्य-विज्ञान और सतति शास्त्र, आदि के आधार भूत सिद्धान्तों पर स्थापित है। इसमें न तो पूंजीवाद को स्थान है और न साम्राज्यवाद का। न तो कोई गरीब है और न अमीर। न कोई ऊँच है न नीच। सब समान समाज के सदस्य हैं। इस तरह वैदिक समाज में मनुष्य का आदि से अन्त तक व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन एकदम प्राकृतिक विधान में शृंखलाबद्ध रहता है। मानव जीवन एवं समाज के कल्याणार्थ इससे सरल और दूसरा

मार्ग ही क्या हो सकता है ? प्रायः संसार के सभी समाज शास्त्री सदा इसी के अधार पर समाज का निर्माण करते आ रहे हैं और आज भी कर रहे हैं। चाहे आप किसी भी देश के समाजिक गठन की मूल सत्ता पर दृष्टिपात करें।

१० **स्त्री-पुरुष की समस्या**—वैदिक समाज में है ही नहीं। कारण यहां किसी भी व्यक्ति को किसी वस्तु की प्राप्ति और निषेध जन्म या जातिभेद के कारण नहीं होता अपितु उसके गुण कर्म स्वाभावानुसार होता है। स्त्री होने मात्र से किसी को किसी काम से वर्जित और किसा कार्य को करने के लिये वाध्य नहीं किया जाता। जीवन के प्रारम्भ में स्त्री पुरुष दोनो ही को सब तरह की शक्ति और योग्यतानुसार समानशिक्षा मिलता है। केवल वयस्क आदि भेद के कारण सहशिक्षा नहीं होता, पर साम्य शिक्षा का समुचित विधान है। सहशिक्षा न होने का अभिप्राय उनमें परस्पर पर्दा आदि का विधान और नैतिकता पर अविश्वास करना नहीं—ये सब सामाजिक कुरीतियां तो यहां नाममात्र भी नहीं। स्त्री-पुरुष को पारस्पारिक साहचर्य की सब तरह से स्वतन्त्रता है। पर पतन का कोई यहाँ भय नहीं, कारण इस समाज में पाप, पतन और व्यभिचार का मूल कारण दासता, विप्रमता और अज्ञानता का नामोंनिशान तक नहीं। सब को अपने कर्तव्य का ज्ञान है और है मनोनीत सहचर के स्वयं वरण की सम्यक् प्रकार स्वतन्त्रता। सब प्राणी स्वतन्त्र, स्वावलम्बी और समान है किसी को आवश्यकीय चीजों का अभाव नहीं। फिर भला उनके नैतिक-जीवन का पतन कैसे हो सकता है ?

अतएव वैदिक समाज में सदा स्त्री-पुरुष दोनों ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में साथ साथ प्रविष्ट होते हैं। दोनों के सहयोग-सम्बन्ध के बिना कोई यज्ञ सफल नहीं होता। इसी से उनका अवाध साहचर्य का सर्वत्र विधान है। चाहे वह कोई भी यज्ञ हो या कोई भी स्थान। दोनों समाज में अपना२ कार्य करते हैं और समाज दोनोंही की आवश्यकता की पूर्ति करती है। समय आने पर दोनों ही को गृहस्थी का परित्याग कर वानप्रस्थ

लेना होता है और पश्चात् सन्यास भी। इस प्रकार यहां स्त्री-पुरुष होने के कारण किसी पर कोई प्रतिबन्ध या सुविधा नहीं। वेद भगवान की आज्ञा है: —

हे स्त्री-पुरुषो तुम्हारा मन, चित्त, विचार एवं सभासमिति सब समान और साथ साथ हो। इस प्रकार मैं (ईश्वर) तुम दोनों को आशीर्वाद देता हूँ कि तुम मेरी इस आज्ञा के अनुसार सदा चलते रहो। मैं तुम्हें सत्य के साथ समानरूप से यज्ञ में संयोजित करता हूँ। तुम्हारा पुरुषार्थ, सामर्थ्य और हृदय एवं मन सब एक समान और परस्पर एक दूसरे के साथ संयुक्त होकर सर्वदा आनन्दित करता रहे।" भला ऐसे समाज में स्त्री-पुरुष की समस्या उत्पन्न ही कैसे हो सकती है! यह तो वर्तमान पूञ्जीवाद में ही सम्भव है, जब कि पूञ्जीवादी प्रवृत्ति के कारण पुरुष अपने को स्त्रियों का शासक और पालक समझते हैं। सच तो यह है कि पूञ्जीवाद और साम्राज्यवाद के इतिहास में किसान-मजदूरों से अधिक स्त्रियां शोषित-शापित हुई हैं। पर आश्चर्य है कि इस तरफ अभी तक बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। हां रूसी राज्यक्रान्ति के पश्चात् लेनिन अवश्य साभिमान उद्घोषित करता है—"क्रान्ति! श्रमजीवी सरकार ने अपने संस्थापन के पहले ही महीनों में स्त्री-सम्बन्धी कानून में बिलकुल क्रान्ति कर दी। जिन कानूनों से स्त्रियाँ बिलकुल गुलामी में जकड़ी हुई थीं, उन्हें पलट देने में सोवियट सरकार ने कोई कसर नहीं रक्खी है।······और अब हम अभिमान पूर्वक बिना किसी अतिशयोक्ति के कह सकते हैं, कि सोवियट रूस के अलावा दुनिया में एक भी ऐसा देश नहीं है जहां स्त्रियों ने सर्वथा बराबरी का अधिकार पा लिया हो—खास कर रोजमर्रा के पारिवारिक जीवन में उनकी स्थिति अपमानपूर्ण न हो।"

१८ वैदिक-साम्यवाद में कला-साहित्य—का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। कारण ये मानव जीवन के गूढ़तम समस्याओं का सम्यक् विश्लेषण ही नहीं करते प्रत्युत नेतृत्व भी करते हैं। प्राच्य दृष्टि में कला, कला के लिये

नहीं अपितु कला मनुष्य के लिये है और साहित्य जीवन का दर्पण ही नहीं बल्कि पथ-प्रदर्शक और निर्माता भी है। इसी से प्राचीन ऋषियों ने कला–साहित्य में "सत्यं शिवं सुन्दरम्" का समावेश किया है। अर्थात् वास्तविक कला—साहित्य वही है जिसमें सच्चाई हो, कल्याण कारक और सात्विक सौन्दर्यमय हो। इनमें किसी एक में विकृति आने पर अन्य दो की पूर्ति असम्भव है। जो सत्य नहीं, वह कल्याणदायक और सुन्दर नहीं हो सकता और जो कल्याण करने वाला नहीं, वह सुन्दर और सत्य नहीं।

कला वा साहित्य ही नहीं—कोई भी मनुष्यकृत वस्तु उपयोगिता से शून्य नहीं होती। हाँ, उसकी उपयोगिता की व्यापकता व्यक्ति के व्यक्तित्व पर निर्भर है। कला और साहित्य की भी यही अवस्था है। इसकी उपयोगिता भी कलाकार और साहित्यकार के नैतिक जीवन, उच्चादर्श और महानता पर अवलम्बित है। जो जितना ही अपने को विस्तृत विश्व के साथ तदात्म करता जाता है उसकी कला और साहित्य में उतनी ही व्यापक विश्ववेदना की अनुभूति एवं विशाल-विश्वजीवन की झलक तथा संकीर्णता का अभाव मिलेगा।

वैदिक समाज में उक्त उच्चकोटि के कलाकारों का ही विशेष स्थान है। यहां कला की आड़ में कामुकता का नाँच करने वाले कलाकार और साहित्यकारों की कहीं गुजर नहीं।

वैदिक समाज में तो उस कला और साहित्य का स्थान होगा जो समस्त मानव जगत में उत्सर्ग, त्याग और आत्म विस्तार की प्रेरणा करें, जो अन्याय अत्याचार से संघर्ष और न्याय, बन्धुत्व एवं मानवता से प्रेम करना सिखाये वह चन्द श्रीमन्तों के मनोरंजन के लिये नहीं अपितु कोटि-कोटि अमृत पुत्रों के कल्याण के लिये होगा। लेलिन के शब्दों में—"वही बन्धन हीन साहित्य होगा क्योंकि उसमें स्वार्थरत्ता और लालच नहीं बल्कि श्रमजीवियों के प्रति सहानुभूति और साम्यवाद के भाव ही उसके प्रभाव को बढ़ाते जायेंगे।

१२—वैदिक-साम्यवाद की व्यवहारिक रूप-रेखा—पूर्व के वर्णन से स्पष्ट है। यह किसी कवि की भाव पूर्ण कोरी काव्य-कल्पना नहीं और न यह किसी दार्शनिक के मस्तिष्क से निकला हुआ वांग्मय कपोल कल्पित हवाई किला ही है। यह तो सर्वव्यापक नैसर्गिक सिद्धान्त है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति निष्पक्ष होकर सर्वहित की भावना से युक्ति, तर्क और विज्ञान की कसौटी पर कस सकता है ।

कुछ लोग जब युक्ति तर्क से काम चलता नही देखते तो झट कह देते है—"यह व्यवहारिक है, शेखचिल्ली की कल्पना है और है कोरा-आदर्श !" इस प्रकार आज बहुत से लोग कुछ सकुचित संस्कारवश, कुछ क्षुद्र स्वार्थवश और कुछ अज्ञानतावश वर्तमान विकृत व्यवस्था का प्रच्छन्न रूप मे समर्थन और सामाजिक क्रान्ति को कुचलने की कुचेष्टा करते दिखलाई देते हैं। पता नहीं ये कब तक लोगों की आंखों में धूल झोंक कर अपना उल्लू सीधा करने का सकल्प किये बैठे हैं। उन्हें यह पता नहीं कि अब वह दिन गया जब श्रमकार "बाबा वाक् प्रमाणम्" के पीछे आँख मूँद कर चलते थे। अब तो वे अपनी स्थिति और उसके मूल कारणों से पूर्णतया परिचित हो गये हैं। उनके सन्मुख अब वैज्ञानिक-साम्यवाद का स्वरूप व्यवहारिक रूप में स्पष्ट है। जिसे युक्ति, तर्क-विज्ञान और वेदादि शास्त्र समर्थन करता है। पाठक! ज़रा आइये!! उपरोक्त बातों की सचाई का पता तो लगायें!

वैदिक समाज का मुख्योद्देश्य है मनुष्य समाज में सब प्रकार का पारस्परिक सहयोग एवं सम्मिलित जीवन की स्थापना, और है इसी के आधार पर सम्पूर्ण व्यवसायिक तथा सामाजिक-व्यवस्थाओं का निर्माण। क्या ये असम्भव है? क्या इस वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में भी सर्वत्र इसका अपूर्ण रूप नहीं दीखता? भारत में आज भी तो पारस्परिक सहयोग से सैकड़ों व्यक्तियों का सम्मिलित कुटुम्बी जीवन व्यतीत हो ही रहा है? जिनका खान-पान और व्यवसाय-वाणिज्य सब साथ २ चलता है। जब सौ पचास मिलकर किसी कार्य को कर सकते हैं

तब उसे इससे अधिक व्यक्ति क्यों नहीं कर सकते ? यदि सौ हिस्सेदार मिलकर एक कारखाना चला सकते हैं तो अन्य व्यवसायोंका सामाजीकरण असम्भव कैसे ? आज भी डाकखाना, रेल, जंगल आदि पर सरकार का अधिकार है ही तो ? यदि अन्य आवश्यकीय वस्तुओं के उत्पादन करने वाले साधनों पर भी अधिकार हो जायगा तो क्या बिगड़ेगा ? और यह कोरी कल्पना कैसे ?

हाँ ! वर्तमान समय में कैसे शुरू किया जाय यह प्रश्न दूसरा है। हमें चाहिये कि अपनी वर्तमान शक्ति के अनुसार एक २ चीज़ को सामाजिक नियन्त्रण में लेते जाँय। प्रमाण स्वरूप जूते की एक-एक दुकान अलग-अलग खोलने से अच्छा है कि १०—२० स्थानीय व्यक्ति मिलकर एक सम्मिलित कारखाना खोल लें और पड़ोस के दूसरे काम करने वाले व्यक्तियों के साथ सहयोग कर एक दूसरे की सहायता में लग जाँय। यथा—आप दूसरों को जूता अपने यहाँ से लेने की प्रेरणा करें और आप कपड़े वाले जुलाहों से कपड़ा लेवें। इसी तरह परस्पर सहयोग से सब वस्तुओं का सामाजीकरण स्वयं होता जायगा। ग्राम २ का अलग सङ्गठन हो, सब से पहले परोस का हित देखा जाय। हाँ, राष्ट्रहित ग्राम का बलिदान चढ़ाना हो तो भले चढ़ा दी जाय पर व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये नहीं। जो ऐसा न करे, वह अक्षम्य अपराधी माना जाय। धीरे २ तदनुसार ही शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य सम्बन्धी साधन तथा खान-पान आदि का भी प्रबन्ध बड़ी सरलतासे सम्भव है। जिसका दिग्दर्शन गुरुकुल, बॉर्डिङ्ग विद्यालय आदि में स्पष्ट होता है। यह ठीक है कि वर्तमान वैषम्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के कारण कुछ गड़बड़ी जरूर आ जायगी, पर संगठित शक्ति से तथा त्याग द्वारा उसका सामना भी किया जा सकता है। यदि वर्तमान समय में हमारे पास पूँजी आदि कम है तो उसी के अनुसार हम अपना कार्य आरम्भ कर सकते हैं। भारत में कई ऐसी सोसाइटियां किसी हद तक चल हो तो रही हैं। उस आधार पर उसे आगे क्यों नहीं बढ़ाया जा सकता ?

अतः साम्यवाद को काल्पनिक या अव्यवहारिक कहना अल्पज्ञता या पूञ्जीवादी वृत्ति का परिचय देना है। यह तो एक प्राकृतिक सिद्धान्त है। जिसका व्यवहार रूस में सफलता पूर्वक हो रहा है। हां! इसके लिये बुभुक्षितों को संगठित होने की जरूरत है। कारण पराये की कमाई पर मौज करने वाले थोड़े ही हैं, जिन पर विजय पाना एक दम आसान है।

१३—**वैदिक साम्यवाद और वर्तमान आर्यसमाज**—का परस्पर साध्य और साधक का सम्बन्ध है आजसे साठ-सत्तर वर्ष पूर्व भारतवर्ष सब प्रकार से दासता, विषमता और अज्ञानता के पाप-पंक में पड़ा कराह रहा था— उस अन्धकारमय युग में महर्षि दयानन्द का इस भूतल पर आविर्भाव हुआ था। महर्षि ने तत्कालीन विकृति एवं वैषम्य को युग प्रवर्तक की आखों से देखा, सब कुछ समझ में आ गया। समस्त मानव-समाज वर्तमान समय में विकृत बनावटी सभ्यता, संस्कृति और व्यवस्था में जकड़ा हुआ घृणितरूप से विमर्हित हो रहा है। विश्व के कोने २ में घृणा अहङ्कार, विद्वेष-विलासिता और लूटनीति एव स्वार्थपरता का स्वच्छन्द-तांडव आरम्भ है। सर्वत्र अन्याय, अनीति और अनाचार का साम्राज्य है। धर्मप्राण भारत अपना सम्पूर्ण ऐश्वर्य लुटाकर दासता का जीवन व्यतीत कर रहा है और हो रहा है इसकी विशाल जर्जरित छाती पर सर्वत्र दुर्भिक्ष, व्याधि एवं नृशंस विदेशियों का खुला शोषण-नृत्य! उफ!! एक तरफ मुट्ठी भर सम्पन्न व्यक्ति सारी दुनियां की दौलत बटोरकर चैन की वंसी बजा रहे हैं, और उसी जगह असंख्य नर कङ्काल दाने २ बिना तड़प-तड़प कर प्राण गँवा रहे हैं! अभागी माताओं को अपने लाल के शव से कफन तक उतार कर मरघट से दूसरी सन्तान के लिये वापस ले जाना पड़ता है। इसे देख कर महर्षि की आत्मा हाहाकार कर उठी। मूल कारण समझने में उन्हें देर न लगी। बहुत दिनों के सोच-विचार के बाद व्याधि की औषधि और उपचार का निश्चय किया— एक सर्वतोमुखी क्रान्ति द्वारा वर्तमान समाज एवं जीवन की सम्पूर्ण व्यव-

स्थाओं को पलट कर उसके स्थान में विशुद्ध वैदिक समाज की स्थापना किया जाय, तभी समस्त कष्टों से भारत और संसार बन्धन-विमुक्त हो सकेगा। किन्तु कैसे? व्यवस्था बदलने का मुख्य साधन तो राजसत्ता है, वह थी विदेशियों के हाथ में। उनकी स्वार्थ सिद्धि उसके बदलने में नहीं जैसे का तैसा बनाये रखने में ही थी। फिर भला वे कब सीधे तौर से इस व्यवस्था को बदलने लगे। यह तो वे विवस होकर ही करेंगे। इस लिये राजसत्ता प्राप्त कर वर्तमान अवैदिक व्यवस्थाओं को पलटने के लिये लोकमत को जागृत करने का उपाय ही महर्षि को उचित मालूम हुआ। एक सर्वव्यापी संघर्ष के लिये उत्पीड़ित जनसमुदाय को सब तरह से तैयार कर मरणासन्न मानव-जगत में सर्वोन्मुखी क्रान्ति पैदा करने का उन्होंने बीड़ा उठाया। वे इस वैश्वानर-यज्ञ को पूर्ण करने में प्राणपन से जुट गये और कार्यसञ्चालन के लिये एक तरुण-समाज का सङ्गठन किया, जिसका नाम रक्खा 'आर्य समाज"। इसका उद्देश्य केवल भारत ही नहीं अपितु समस्त संसार को दासता से मुक्त करना था। इसी आधार पर इसके सभी नियमादि का निर्माण किया गया। महर्षि ने अपने खून से इसे सींचकर बढ़ाया एवं उनके बाद उनके सच्चे भक्त काफी दिनों तक इसे बढ़ाते रहे। आर्य समाज तीव्र गति से अपने कर्त्तव्य पथ पर लक्ष्य की ओर बढ़ता गया, जनसमुदाय ने प्रारम्भ में ईंट-पत्थर से तथा बाद में फूल-माला से उत्साहवर्द्धक स्वागत करता गया। विदेशी-शासक इसके बढ़ते प्रभाव को देख शङ्कित हुए, चेतावनियां दीं और फिर उपेक्षा भाव से मौन हो गये।

परन्तु लोगों ने देखा कि इसके कुछ ही दिन बाद समाज की प्रगति शिथिल होने लगी और वह शिथिलता निरन्तर बढ़ती ही गई। इसके कार्यकर्ता भीतर ही भीतर निराश से रहने लगे। स्पष्ट सत्योक्ति की जगह नीति का आश्रय लेने लगे। अब वे विश्व की वर्तमान व्यवस्था में आमूल क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं अपितु यथासम्भव सुधार चाहने लगे। विदेशी-शासकों से सीधा मोर्चा लेने में कतराने लगे और अपने राज-

नीतिक सिद्धान्तों की उपेक्षा कर साम्प्रदायिकता की आड़ में अपना मुंह छिपाने लगे। शासकों से शासनसत्ता और संघर्ष नहीं बल्कि सहायता और सहयोग चाहने लगे। विदेशियों से असहयोग नहीं प्रत्युत चरण चुम्बन कर भक्ति प्रदर्शित करने में गौरव अनुभव करने लगे। "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" और समस्त ससार का उपकार तो दूर-राष्ट्रीय-प्रगति में भी पिछड़कर हिंदू-हिंदू का राग अलापने लगे। वेद-प्रचार का अर्थ क्रियाहीन कोरी लेक्चरबाजी तथा वैदिक-जीवन का अर्थ संस्कारविधि का तोतारटन्त पाठ समझने लगे। वैश्वानर-यज्ञ के नाम पर बनियाऊ ढङ्ग से चन्दा बटोरने का कार्य करने लगे। आज यह किस दशा में है—सब पर भली भांति प्रकट है। चाहे इस पतन का मूलकारण विदेशियोंके पिट्ठू सरकारी अधिकारी और पूँजीपतियों का प्रवेश कहें या टकापरस्त स्वार्थान्ध व्यक्तियों का षड्यन्त्र, संस्थाओं का दलदल कहें या और कुछ?

पर यह निश्चित है कि वर्तमान आर्यसमाज महर्षि के मूल-मकसद से दूर बहुत दूर हिन्दू समाज का एक साम्प्रदायिक अङ्ग बन कर उनके बतलाये प्रशस्त मार्ग का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से काँटा बन रहा है। जिन दुर्गुण और कुरीतियों को विनष्ट करने में महर्षि का बलिदान हुआ, आज यह उनका ही समर्थन और प्रचार कर रहा है और कर रहा है साध्यहीन संस्थाओं के जाल में फंसा अपने संकुचित और कलहमय जीवन को व्यतीत।

आज यह कुरान की आयतों की तरह वेद मंत्रों की पूजा करने में गौरव समझता है, पण्डिताई-पुरोहिताई एवं महंती पर इसे नाज़ होता है और होता है इसे अपनी रूढ़ि-प्रियता और गुरुडम पर अभिमान! जिस मानसिक दासता से मुक्त करना स्वामी जी का लक्ष्य था आज यह उसी के जंजीरों में घृणित रूप से जकड़ा है। कुम्भ की तरह शताब्दियां और स्वर्णजयन्तियां मना कर लाखों रुपये इस दरिद्र देश का पानी की तरह बहाता है। पौराणिकों की नाईं लोकहित की उपेक्षा कर दस दस हजार रुपये का घी आदि एक २ समय में अग्निदेव को भेंट करने में ही

वेद का उद्धार मानता है। वर्ण व्यवस्था के आड़ में जन्म से जाति पांति की कुत्सित प्रथा का समर्थन तथा मनुष्य समाज में ऊँच नीच का घृणास्पद प्रचार करता है। प्लेटफार्म से रूस और साम्यवाद की निंदा कर क्रियात्मकरूप में महर्षि के नामपर सहशिक्षा का प्रचार करता है। अनाथालय और विधवाश्रम तो विवाह-व्यापार की मण्डियां हैं। सब संस्थायें उपदेशक प्रचारक, पण्डित-पुरोहित, अध्यापक प्रोफेसर और पत्रकारादि विविध व्यापारियों के रोजी का ज़रिया एवं आड़ हैं। उफ! महर्षि दयानन्द और वेद के नाम पर कितनों का पेट पालन हो रहा है? इतना ही नहीं मैं पूछता हूं कि कोई भी सच्चा आर्य निष्पक्ष भाव से बताये कि आज वर्तमान आर्यसमाज में कौन ऐसी साम्प्रदायिक कुरीतियां हैं जो दूसरे रूप में प्रविष्ट नहीं होगई हैं! मेरा मतलब आर्यसमाज ने अबतक क्या किया और क्या था—यह जानना नहीं, प्रत्युत आज क्या है और क्या कर रहा है यह जानना है। यदि ठण्डे दिलसे सोचें तो—पूर्व वर्णित बातें शत प्रतिशत नहीं तो नब्बे प्रतिशत सत्य अवश्य मिलेगी। तभी तो आज जिधर भी जाइये उधर यही सुनाई देता है कि—"पक्का आर्यसमाजी वही है जो कोरी वाक्पटुता में कुशल हो, जो "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" के अनुसार समस्त संसार को आर्य बनाये, पर खुद न बने।" इतना ही नहीं अपितु आज यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि इसके पण्डित-प्रचारकों में जहाँ पहले शत प्रतिशत त्यागी और निष्काम कर्मयोगी थे वहाँ आज अधिकांश टका धर्मी हैं। वानप्रस्ती—शहर-प्रस्त पेन्शनर लाइफ आराम से गुजारने वाले और सन्यासी चलते-फिरते गृहस्थ मौज से सैर करने वाले हैं। जिनका काम केवल अन्य सम्प्रदाय के पण्डे-पुरोहित, मुल्ला-पादरी और पोप-मठाधीशों की तरह पूंजीपति और सम्राटों की छत्रछाया में मौज उड़ाते हुए दान-दक्षिणा और सम्मान लोभ में शोषक-शासकों का गुणगान करना है। दिन रात जो गरीबों का रक्त चूस २ कर शराब और कबाब में, फैशन और विलासिता में तथा किसान और मज़दूरों पर अत्याचार

करने में अपना जीवन विताते हैं, उन्हें सिर्फ चाँदी के चन्द टुकड़ों पर धर्म रक्षक और दानवीर आदि विविध उपाधियों से विभूषित करना है। पत्र-पत्रिकाओं में मोटे २ अक्षरों से चित्र सहित प्रसंशा के गीत गाकर, संस्थाओं में वेद मन्त्र की जगह उनके नामों को बड़े बड़े पत्थर लगा कर, सभा मञ्च में उनकी तारीफ का पुल बाँधना है और है पन्द्रह पन्द्रह मिनिट में वैदिक रीति से उनका विवाह संस्कार करा चाँदी की चपत खाकर सिद्धान्त का सत्यानाश करना। तभी तो टोकरियों बादाम और फलों के साथ सेकण्ड क्लास और इन्टर में सैर करने को मिलती है? मोटी तनख्वाहें और दानदक्षिणा वसूल होती है? तथा नित्य पाँच दूध में—पाँच घी में और सर तस्मई की कढ़ाई में डूबा रहता है? ठहरने के लिये बड़ी २ कोठियाँ और सैर के लिये मोटरें तैयार रहती हैं? एक बगल हवन होता है तो दूसरी बगल भकाभक सिगार और सिगरेटों के धुएँ के बादल बनते हैं? जहाँ प्रातः यज्ञ हो वहाँ शाम को अंग्रेज़ी पार्टी उड़ाई जाती है? किसमें साहस है कि चूं भी करे? जरा बोले नहीं कि चंदा खत्म और विदाई बंद। अरे! जब स्वयं उन्हींके आधीन गुलाम बनकर रहना है, फिर कोई कैसे खाँस-खखार सकता है। हमारे पंडितों को तो कूड़े-कर्कट और गंदगी के ढेर पर खड़ा होकर तोता की तरह धर्मोपदेश का नाट्य करना है, जीवनकी गन्दगी साफ करना कराना इनका काम नहीं। सभाओं में लोगों को गप्पें सुना कर प्रसन्न करना है, सन्मार्ग बताना नहीं, और मंच से उतरते ही मन्त्री जी से पूछना—कहिये! कैसा रहा? बस! अधिकारियों की तारीफ कर अपनी रोजी बहाल रखना ही इनके वेद-प्रचार का पहला मन्त्र है। कोई अधिकारी प्रतिकूल नज़र आया—तो झट उसके विरुद्ध प्रोपगेण्डा कर निकाल बाहर कराया या पार्टियां बना दी। सम्मान के लोभी सरमायादार क्यों न इनके जाल में फंसे? आखिर उनके पाप छिपाने का अन्य मार्ग ही क्या है? इसी से तो जिन "टीढ़ानम्" पण्डितों को अन्य स्थान में आज दस-पन्द्रह रुपये भी मिलना मुश्किल है—उन्हें यहां बड़ी ही आसानी से सौ-पचास मिल जाते हैं और त्यागी

सेवक एवं ऋषि-भक्त बने रहते हैं सो अलग ! पूञ्जीपति उनकी प्रशंसा करते हैं और वे पूजीपतियों की ! दोनों ही का काम पारस्परिक सह-योग से चल जाता है ..पर हमारे प्रचारक जी की कलई उस समय खुलती है, जब आप पैसे के लिये प्रचारक की काया त्याग कर झट बीमा कम्पनी के ऐजेन्ट बनते नजर आते हैं और भोली जनता से अपने पूर्व के प्रभाव का अनुचित लाभ उठाने दीखते हैं। अप्रसिद्ध अवस्था में तो आप सभा में और प्रसिद्ध हो जाते ही स्वतन्त्र दिखलाई देते हैं। इतना ही नहीं अपितु साम्प्रदाय-परिवर्तन तक करते कहीं २ जब नजर आते हैं और दिखलाई देते हैं, जब बादाम, और सरगई, दूध और घी तथा विदाई-भाड़ा के समय थूक्कम फजीती पर उतारू।

केवल प्रचारक, पुरोहित और सन्यासियों का ही यह हाल नहीं, जिधर दृष्टि डालिये उधर ही स्वार्थ का अभिनय हो रहा है। जरा गुरुकुल और कालेज़ के उन जीवन सदस्यों पर दृष्टि डाले जो वर्तमान समाज के स्तम्भ माने जाते हैं। जिनमें अधिकांश के त्याग का स्टैन्डर्ड गुरुकुल और कालेज़ में रहते हुए भी डेढ़ सौ रुपये से नीचे नहीं खिसकता। अतिरिक्त आमदनी की बात तो जाने दीजिये ! सर्वत्र पैसे की लूट खसोट मची है। जैसे भी हो वेद की दुहाई देकर या महर्षि दयानन्द की—बस सर्वत्र पैसा इकट्ठा करना ही प्रधान लक्ष्य है। तभी तो पण्डित जवाहरलाल जैसे मानव प्रेमी को भी धर्मद्रोही नास्तिक कह कर वेद के विपरीत ऊँच नींच, अमीर-गरीब और न जाने कैसी २ ऊलजलूल बातों का प्रचार किया जाता है। दुःख गरीबी और दासता-विषमता ईश्वर कावरदान और सृष्टि का नियम कहा जाता है। ताकि दलितों को उठने का साहस ही न हो।

सच तो यह है कि आज अन्य संस्थाओं की तरह समाज भी एक तरह से पूजीपतियों की साझे में संचालकों का मठ बना हुआ है। जहां वे मठाधीश की तरह गुलछर्रे उड़ाते नज़र आ रहे हैं। तभी तो किसी आश्रम या संस्था से अभागे विद्यार्थी और सन्यासियों को धक्के देकर

बाहर निकाल दिया जाता है और हमारे संस्था के संचालक महोदय तथा पूँजीपतियों के दोस्त-यार परिवार के परिवार कच्चे बच्चे के साथ चैन के दिन गुजारते हैं। आजन्म अपना अधिकार जमा कर एक तरह से अस्थायी जायदाद बना लेते हैं। संस्था की चीज़ें उनकी अपनी और संस्था का नौकर उनका अपना नौकर बन जाता है। उफ! ये संस्थायें कहने के लिये तो होता है गरीबों के सहायतार्थ पर चैन करते है, मोटे २ वेतन भोगी अधिकारी और धनपति। नाम के लिये कितने ही गुरुकुल, कालेज और स्कूल खोल रक्खे हैं—परन्तु इनसे कितने गरीबों को मदद मिलती है? बड़े २ त्यागी, हुतात्मा-अध्यापक और जिन्दा शहीद कार्यकर्त्ताओं की भी बाढ़ है, किन्तु इनसे दरिद्र नरायणों को क्या लाभ? एक भी ऐसी उत्कृष्ट संस्था नहीं, जहाँ निर्धन विद्यार्थी निःशुल्क उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकें। लाखों वेद प्रचार में फूंके जाते हैं, धुआधार स्पीचें झाड़ी जाती है, परन्तु अपने गुरुकुल, कालेज और स्कूलों में वसूल की जातो है फीस! वह भी इतना अधिक कि बड़े २ श्रीमानों के कुमार-कुमारियाँ ही उसे पूरा कर सकती हैं, अभागे भूखों के लिये तो ........?

चन्द शिक्षयालय हैं भी पर वे या तो पुरोहित-फैक्टरी हैं अथवा गीत गा गा कर पैसा मांगना सिखाने वाले अनाथालय! आश्चर्य तो यह है—जो समाज के नेता इन शिक्षा संस्थाओं की प्रशंसा करते अघाते नहीं, उन्हीं की सन्तानें कांगड़ी के प्रिंस कालेज और अन्य अंग्रेजी संस्थाओं में पढ़तीं हैं। संस्कृत पढ़कर पुरोहिताई अभागे गरीबों के बच्चे करें और अंग्रेजी पढ़कर बाबूगीरी को हमारे नेताओं के कुमार! क्यों?

आज तो सर्वत्र स्पष्ट नजर आयेगा कि ये सभी संस्थायें सत्ताधारी धनपतियों के शोषण-शासन की ढाल, पाप पर पर्दा डालने का चादर, लीडरो और स्वार्थ सिद्ध करने का साधन, अखबार और व्यापार चलाने का ज़रिया, विज्ञापन का क्षेत्र, दिल बहलाव करने का क्लब, देश की आजादी एवं सर्वहारा-समाज के मुक्ति-आन्दोलन को पीछे ढकेलने की मशीन है।

ये विदेशियों और श्रीमन्तोंके संकेत पर सदा नाचती रहती है, जिनका उद्देश्य जनता की आँखों पर धर्मान्धता की पट्टी बाँधकर वर्तमान नारकीय स्थिति से जनसाधारण को अनभिज्ञ रखना है। घण्टे घड़ियाल और वेदमन्त्रों की आवाज़ में हृदय की हाहाकार छिपाये रखना है और है धर्म का गीत गा गा कर भूखे नरकंकालों को बहलाये रखना। ताकि कहीं वे प्रतिकार में उन्मत्त हो हमारी सत्ता ही न पलट दें। उफ! कहाँ उन दिव्य आत्माओं का लोकोपकारक कार्य और कहाँ उनके अनुयायियों की ये काली करतूत! छीः निर्लज्जता भी तो लज्जा अनुभव करती है! यद्यपि आज भी आर्यसमाज उन अन्य साम्प्रदायिक संस्थाओं से लाख गुणा श्रेष्ठ है, परन्तु कहाँ महर्षि का वह आदर्श और कहाँ आज का उसका यह जीवन एवं कार्य?

आज जिस तरफ भी मुख उठाइये सब ओर से उपरोक्त भर्त्सना भरी आवाजें सुनाई देगी। उक्त कटु सत्य की उपेक्षा करना अपने आप को छलना है। भला यदि आर्यसमाज महर्षि के चरण चिन्हों पर चलता हुआ अपने महान लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता तो किसमें साहस था, जो आज इसकी ओर उंगली उठाता और इसे साम्प्रदायिक संस्था कह कर घृणा करता! यदि पूर्व वर्णित वैदिक समाज की रचना कर मानव समाज को आदर्श रूप में गठित रखता तो कौन इसे पूंजीपति और विदेशी साम्राज्यवादियों का पिट्ठु कहता। अरे फिर तो आज भारत में कोई राष्ट्रीय-संस्था होती तो एकमात्र "आर्य्य समाज"। संसार में कोई साम्यवादी समाज होता तो केवल 'आर्य्यसमाज"। आज लोगोंकी दृष्टि रूस और कांग्रेस की ओर नहीं होती—बल्कि आर्यसमाज की ओर होती। माना की इसमें मुट्ठी भर धनपति और अंग्रेजों के पिट्ठू नहीं आते; पर कोटि २ सच्चे धर्म प्रेमियों से यह भरा होता। आज की तरह इसकी दशा कभी न होती। परन्तु आह! इतिहास में इसका उत्थान-पतन दोनों ही आश्चर्यजनक हैं!

आज समाज के संचालकोंसे जब कहा जाता है कि आइये! अब भी

समय है सम्भलिये, जरा आगे बढ़े एक नये सिरे से "वैदिक-समाज" का गठन किया जाय। जिसमें प्रत्येक सदस्य का समाज ही सब कुछ हो। उसकी दौलत, परिवार और उसका जीवन सब समाज के आधीन हो सब यम-नियम के पालन करने वाले हों। सब का व्यवसाय-वाणिज्य और धन-सम्पत्ति आदि सम्मिलित हों। सब के बच्चों का समान रूप में शिक्षा का प्रबन्ध हो। इसके लिये गुरुकुलें खोली जाँय। आज की तरह स्कूल-कालेज नहीं जहाँ केवल बड़े धनपतियों के कुमार-कुमारियों की शिक्षा पर तो पच्चास २ रुपये मासिक खर्च किया जाय और अभागे गरीबों के बच्चों को अनाथालय और लाहौर के पुरोहित फैक्टरियों में भेज दिया जाय। सबका एक परिवार हो और सभी सदस्य उसके अंग। कोई हममें बड़ा छोटा एवं अमीर गरीब न हो। सबका समान हक हो और हो सबके साथ पूर्ण समानता का व्यवहार। भले ही इस समाज की संख्या थोड़ी हो। सदस्य उसके दो चार ही हो। परवा नहीं—खूब समझ बूझकर सब प्रकारसे परीक्षा लेने के बाद योग्य मेम्बर बनायेंगे। चवन्नियाँ मेम्बर नहीं। यह लोगों की दान-दक्षिणा और चन्दा पर नहीं चलेगा, बल्कि इसके सदस्यों के पुरुषार्थ और सेवा पर संचालित होगा। जो सदस्य नियमों का उल्लंघन करेगा, वह शर्त के मुताबिक कठोरतापूर्वक दण्डित होगा। धीरे २ हमारी शक्ति बढ़ती जायगी।। हम अपना कारोबार भी बढ़ाते जायँगे। हमारे सदस्यों में सब तरह के व्यक्ति हो जायगे। हमें किसी बात के लिये दूसरों के आगे हाथ नहीं पसारना होगा और धीरे २ हम विकसित हो एक विशाल परिवार के रूप में परिणत हो जायंगे। यदि विदेशी इस वैदिक-समाज की स्थापना में रोड़े अटकायेंगे, तो हमें उनसे भी मोर्चा लेना होगा। हमें क्या भय ? हमें हक है कि हम अपने पूर्वजों के कथनानुसार अपनी सभी व्यवस्था बनायें।" परन्तु आप यह सुनकर झट लाल कपड़े देख कर जैसे साँड़ भड़क उठते हैं—वैसे ही बिगड़ उठते हैं—"यह तो रूस का नकल है। ये सब असम्भव बातें हैं। दुनिया में भला सब समान कैसे होंगे ? संसार का कल्याण बस वेद के प्रचार से

से ही होगा। आपको चाहिये कि खूब उत्साह से ग्रामों में प्रचार कार्य करते जाँय। सारी दुनियां वेद की ओर आ रही है इत्यादि।" खूब! हृदय क्षुब्ध हो उठता है—इनके मधुर उपदेश से। ग्रामों में हम जाँय और शहरों की ऊँची अट्टालिकाओं में ये रहे! बड़े २ सभा मंचों पर आप लीडर बने, सरगई छाने और गांवों का धूल फांकें—हम! संस्कृत पढ़ कर सस्कार विधि हम रटें और अंग्रेजी पढ़ कर शेक्सपियर का ड्रामा ये। खूब! कितना सुन्दर ग्राम प्रचार का प्रोग्राम है? भला भूख से तड़पते हुए जमींदार और साहूकारों की राक्षसी चक्की में पिसते हुए ग्रामीण हमारी कोरी लेक्चरबाजी सुनेंगे? और वेद प्रचार का अर्थ है, इनके कोष में कोरी लेक्चर बाजी और ऊँच-नीच, अमीर-गरीब का प्रचार! रूस की निन्दा और लम्बे २ प्रस्ताव। तभी तो लाखों रुपया विविध उत्सवों में पानी की तरह बहाया जाता है, परन्तु उन्हीं पैसों से कोई कारखाना, बैंक या अन्य कारोबार नहीं खोली जाती। क्या जिस तरह फ्लेक्स शू चलता है वैसे ही एक "आर्यन लेदर वर्क्स" खोल कर "आर्यन शू" नहीं चलाया जा सकता? क्या जिस तरह पुस्तकों की प्रतियाँ खरीदने की अपील की जाती है, वैसे ही प्रत्येक आर्य से उस कारखाने के बने जूते आदि खरीदने की अपील नहीं हो सकती? इसी तरह क्या धीरे २ कपड़े आदि के मिल तथा बीमा आदि की कम्पनियाँ नहीं चला सकते हैं? बगल में दयाल बाग वाले कर ही तो रहे हैं? उफ! उसकी आमदनी से कितने गरीबों की रक्षा हो सकती है? और कार्यकर्ता गण धनिकों के चरणों में नित नाक रगड़ने से बच सकते हैं? मगर कौन करे इसे? फिर भला यारों का रोजगार कैसे चलेगा? और हमारे वर्तमान आर्य परिवार ही भला कब आर्यों की बनी चीजें पसन्द ही करेंगे? उन्हें तो सभी चीजें फैसनेबुल खास लण्दन मेड चाहिये, कम के कम पञ्जाब में तो जरूर ही। फिर क्यों न कोरी लेक्चर बाजी में ही जीवन का दिन काटा जाय। पर रोटी की समस्या हल किये बिना भला कौन आज सुनता ही है? रूस को चाहे हम अपने घर बैठे खूब गालियाँ

दे लें और अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बन लें, पर आज वह समस्त संसार का अकर्मण्य क्षेत्र बना हुआ है। क्यों? वेदानुकूल एक आर्थिक गठन के ही कारण तो? हम लोग सदा वेद लेकर युगों से वेद २ रटते ही रह गये।

अतएव आर्यसमाज में नवजीवन लाने के लिये उसे वैदिक-साम्यवाद के आधार पर संगठित करना अनिवार्य है। चाहे उसे रूसी कहिये या भारतीय? पूर्वीय कहिये या पश्चिमीय? पर मूल तत्व तो एक ही है—सर्वव्यापी दासता, विषमता और अज्ञानता से संसार को मुक्त करना। इस साध्य की सिद्धि चाहे जैसे भी हो? पर किये बिना न तो समाज का कल्याण है और न संसार का! इसलिये मैं तो कहूँगा कि आर्य युवकों आवो! ऋषिद्वारा प्रदर्शित प्रशस्त मार्ग पर चलकर सारे सत्ताधारियों का पोल खोल दें। एक बार सारी कुरीतियों को मार भगायें और वर्तमान विश्व की सारी व्यवस्था पलट कर सच्चे वैदिक-समाज की स्थापना करें। महर्षि का अन्धानुकरण नहीं, अपितु उनके प्रकाश में उत्कर्ष की ओर बढ़े। उनके एक एक वाक्य के पीछे आँख मूंदकर चलना तो उन्हें धोखा देना है। इसी अन्ध-परम्परा को नष्ट करना तो ऋषि का लक्ष्य था? आज की दुनियाँ केवल आपकी बातों में ही नहीं फंस सकती। आप लिखने और बोलने में बड़े चतुर हैं, तो थोड़ी देर तक लोगों को अंधकार में भले ही रख लें, पर अन्त में भण्डाफोड़ जरूरी है। पेट की ज्वाला सब की आँखें स्वयं खोल रही है। अब तो आगे बढ़ने के अतिरिक्त—

"ना अन्य पंथा विद्यते अयनाय:"

## साम्यवाद पर आक्षेप

"संसार की और भारत की समस्याओं को हल करने की कुंजी सोशलिज्म में है। मैं इस शब्द का प्रयोग वैज्ञानिक और आर्थिक भावना से करता हूँ। यह जीवन का तत्वज्ञान है। समाजवाद की साधना के सिवा गरीवी, वेकारी तथा भारतीय जनता की अधोगति एवं पराधीनता को दूर करने का मुझे कोई उपाय नहीं दीख पड़ता। साम्यवाद का अर्थ है वर्तमान नियमित अवस्था को छोड़ कर व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश और वर्तमान मुनाफा-प्रणाली के स्थान पर सहयोग पद्धति के ऊंचे आदर्श की स्थापना। मैं नहीं जानता कि भारत में यह व्यवस्था कब और कैसे आयेगी, मैं चाहता हूं कि इस प्रश्न पर हम लोग आपस में वहस-मुवाहसे कर लें, ताकि हमारे विचार स्पष्ट हो जांय।"

—पण्डित जवाहरलाल नेहरू।

## चतुर्थ—अध्याय

# पूँजीपतियों को चेतावनी

न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुरुताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोपदस्यत्युताऽपृणन्मर्डितारं न विन्दते ॥
मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाऽघोभवति केवलादी ॥

हे मनुष्यो ! देवों ने भूख तुम्हें मारने के लिए निश्चय ही नहीं दी, क्योंकि भोजन करने वाले पूंजीपति को भी मृत्यु प्राप्त होती है अर्थात् मनुष्य भूखों मरने के लिए उत्पन्न नहीं हुआ। क्या भाग्यवाद की दुहाई देने वाले उक्त वेद मन्त्र पर विचार करेंगे ? जो धन सब की भलाई में लगता है वह निश्चय ही धन वाले का नाश नहीं करता। परन्तु जो व्यक्ति लोकोपकारी कार्य में अपना धन व्यय नहीं करता वह धन उसका नाश करता है।

जो असंस्कृत मलीन बुद्धि वाला व्यर्थ, परिश्रम के विना केवल बैठे २ अन्न प्राप्त करता है उसका वह अन्न निश्चय से उसकी मृत्यु का कारण है, यह मैं सच कहता हूं। जो श्रेष्ठ कार्य करने वाले को तथा हितकारक मित्र या पड़ौसी की सहायता नहीं करता, जो केवल अपना ही पेट भरने वाला है वह केवल पाप की मूर्ति है, इसमें क्या सन्देह ? आज सर्वत्र यही तो हो रहा है। रूस और फ्रांस उक्त वेद मन्त्र की वास्तविकता का ज्वलन्त प्रमाण हैं। भारतीय सरमायादार जरा ईश्वरीय आज्ञा पर दृष्टि तो डालें ! तो उन्हें पता चलेगा कि उनका भविष्य उनके हाथों में है। वेद विरुद्ध चलने में उनकी बिलकुल खैर नहीं है। भगवान् कृष्ण भी यही कहते हैं:—

"भुञ्जते ते त्वघं पापा पचन्त्यात्म कारणात्"

जो लोग केवल अपना ही पेट भरते हैं वे पापी पाप ही खाते हैं।

१—पूंजीपतियों की कुचेष्टा—साम्यवाद के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर भारत ही नहीं अपितु संसार भर के पूंजीपति, साम्राज्यवादी और साम्प्रदायिकों में भीषण खलबली मच गई। सभी अपने शोषण-शासन को अक्षुण्ण रखने के लिये उस पर नाना प्रकार के मिथ्या इल्ज़ाम लगाने लगे। किसी ने धर्मद्रोही नास्तिक कहा, तो किसी ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सदाचार का शत्रु। एक ने इसे मानव-प्रकृति के प्रतिकूल और हिंसक बतलाया तो दूसरे ने कला-कौशल और राष्ट्रीयता का विनाशक।

इस प्रकार धर्मान्ध जनता में इसके प्रति खूब घृणित भाव फैलाने का जघन्य प्रयास किया गया तथा आज भी फैसिस्ट का रूप धारण कर किया जा रहा है। पर इससे साम्यवाद की प्रगति में कोई खास बाधा नहीं आई। उसका प्रसार दिनोदिन तेजी से बढ़ता ही जा रहा है। उसका सत्य-स्वरूप, निःस्वार्थ-सेवा-कार्य और विश्वहित की शुभकामना समस्त संसार को बलात् अपनी ओर आकर्षित करती जा रही है।

भारतीय किसान और मजदूरों में धार्मिक भावों की प्रधानता देख कर सत्ताधारियों की ओर से यहां भी कूटनीति का अवलम्बन किया जा रहा है! भारतीय पूंजीपति-जमींदार, राजे-साहूकार और विदेशी साम्राज्यवादी तथा मजहबों के ठेकेदार सभी फैसिस्ट के ढङ्ग पर संगठित होकर साम्यवाद को कुचलने की चेष्टा कर रहे हैं। पिछले दिनों जब पण्डित जवाहरलाल नेहरू के मस्तक पर कांटों का ताज़ रखा गया तब उन्होंने वर्तमान भारती-वेदना का साम्यवाद के साथ अटूट सम्बन्ध स्थापित किया, उस समय उन पर भी चारों तरफ से कीचड़ उछाला गया। कई पूंजीवादी राष्ट्रीय नेताओं ने इन भावनाओं को राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये घातक भी बतलाने की धृष्टता की।

पर प्रगति-पथ पर आरूढ़ देश दूसरों के भुलावे में कैसे आसकता था ? उसने प्यारे जवाहर के हाथों में अपनी वागडोर फिर सौंप ही दी। साम्यवाद के विरोधी यह मुंह तोड़ उत्तर पाकर कुछ होश में आये। अन्ततः ! साम्यवाद के सम्बन्ध में सब को सोचने विचारने के लिये बाध्य होना पड़ा। अब तो कुछ स्वार्थान्ध व्यक्तियों को छोड़कर सभी इसकी महत्ता स्वीकार करने लगे हैं।

२—धर्मविरोध का कारण—ईश्वर और धर्म के प्रति घृणा और अविश्वास फैलने का प्रधान कारण साम्यवाद नहीं वरन् धम के नाम पर मज़हबी ठेकेदारों का अत्याचार है। गद्दीधरों के बर्बरतापूर्ण अनाचार, पोप और पुरोहितों का धोखा-फरेब तथा इनके प्रति विज्ञान का जबर्दस्त विद्रोह है, जो साम्यवाद से बहुत दिन पूर्व प्रारम्भ हो चुका था। जिसे वैज्ञानिक-क्रान्ति के पश्चात् शिक्षित संसार ने दर्शन किया और कहा—ईश्वर और धर्म स्वार्थान्ध पण्डे और पुजारियों के व्यापार का साधन तथा पूँजीपति और साम्राज्यवादियों के शोषण का ढाल है। वह सत्य का शत्रु, विज्ञान का विरोधी तथा सर्वहारा समाज के चिर दासता का मूल कारण भी है। महर्षि मार्क्स के शब्दों में—"धर्म लोगों के लिये अफीम के नशे के समान है"। क्यों ? इसका स्पष्टीकरण लेनिन ने किया हैः—"धर्मद्वारा मनुष्य समाज पर घोर आध्यात्मिक अत्याचार तथा अनिष्ट होते हैं। आज लाखों की संख्या में किसान और मजदूर भूखों मरते हैं, और पूंजीपति उनकी इस करुण दशा पर मूछों पर ताव दे देकर व्यंग की हसी हंस रहे हैं धर्म सिखाता है कि यह अत्याचार, यह अंधेर चुपचाप मूक-पशुओं की तरह सहते रहो, क्यों कि यह सब तो भगवान की देन है और भाग्य का खेल है। धर्म गरीबों को भावी स्वर्ग के काल्पनिक सुनहले चित्रों को दिखा दिखा कर, उन्हें अपने माया-पाश में फंसा कर, इस लोक में नारकीय जीवन व्यतीत करवाता है और दूसरी ओर उन गरीबों का खून पी पी कर कुप्पा होने वाले धन्ना-सेठों को चांदी के कुछ टुकड़ों के व्यय से ही सारे पापों से मुक्त कर

देता है, तत्पश्चात् उन्हें स्वर्ग का अधिकारी बना देता है। ऐसा धर्म सचमुच में मनुष्य समाज के लिये अफीम के ही सामान है"। धार्मिक जगत के भूत तथा वर्तमान का कलङ्कित इतिहास उक्त सत्य का स्पष्ट साक्षी है

प्रमाण स्वरूप इस बुभुक्षित गुलाम भारत को ही लें—एक तरफ कोटि २ निराश्रित नरकङ्काल अन्न-वस्त्र से हीन होकर तड़प रहे है, अभाव-ग्रस्त हो नाना प्रकार के दुराचार आदि में प्रवृत हो नारकीय जीवन व्यतीत करते हैं। शिक्षा और चिकित्सा के बिना सड़ २ कर मरते हैं। दूसरी तरफ इनके रक्त को चूस २ कर गुलछर्रे उड़ाने वाले ढोंगी धर्माधिकारी इन्हें पूर्व जन्म, कर्मफल तथा भाग्यवाद का गलत रूप बता शान्ति और संतोष का उपदेश दे रहे हैं। विदेशियों के हाथ की कठपुतली बन कर धर्म के नाम पर बेगुनाहों का खून बहा रहे हैं और कर रहे हैं, भारत के मुक्ति-आन्दोलन को विफल बनाने का कुत्सित प्रयास। इतना ही नहीं बल्कि वे उन पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों के शोषण को स्वार्थवश प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से न्यायसंगत और धर्मानुकूल करार देते हैं। उसके प्रतिकार कर्त्ताओं के विरुद्ध देते हैं मनमाने फतवे। फिर भी यदि हम उन्हें अपना धर्म गुरु एवं मुक्तिदाता मानें तो यह हमारी धर्मान्धता और दुर्भाग्य के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? इस धर्मोन्माद या नशे को क्यों न दुनिया से मिटा दिया जाय? इसे अफीम का नशा नहीं तो और क्या कहे?

सच्चे धार्मिक कहेंगे कि इसमें धर्म बेचारे का क्या दोष है? दोष तो उन स्वार्थान्ध व्यक्तियों का है जो उसके नाम पर अपनी कुत्सित वासनाओं की सिद्धि करते हैं और है उनका दोष जो आँख मूँदकर करते हैं इनका अनुकरण। भला बन्दर की बला नारियल के सर क्यों? हाँ, यह ठीक है, पर मैं पूछता हूँ साम्यवाद ने धर्म शब्द के अतिरिक्त कब धर्म का बहिष्कार ही किया? यह सत्य है कि उसने धर्म शब्द का प्रयोग रूढ़ि अन्ध-विश्वास और मजहब आदि के अर्थ में प्रयुक्त होते देखकर

उसका बहिष्कार किया। ठीक वैसे ही जैसे मुर्दे के साथ व्यवहृत होने से "श्रीराम नाम सत्य है" इस वाक्य का विवाह आदि शुभ अवसरों पर बहिष्कृत किया जाता है। अन्यथा आज भी वह संसार में प्रत्येक धार्मिक और आस्तिक कहे जाने वालों से धर्म के अधिक निकट है। धर्मद्रोहीनास्तिक तो स्वार्थी शुष्ण-असुर उसे बदनाम करने के लिये ही कहते हैं। वरन् आज कौन सच्चा धार्मिक कह सकता है कि साम्यवादी धर्म विरोधी है? क्या साम्यवाद से पहले ईश्वर और धर्म का विरोध नहीं हुआ? और हुआ तो क्यों? साम्यवाद ने इसमें कौनसा अतिरिक्त हलाहल घोल दिया है? क्या साम्यवाद के सन्मुख वही स्थिति उपस्थित नहीं है जो पहले भगवान बुद्ध और श्री महर्षि दयानन्द आदि के सन्मुख थी? फिर भला साम्यवाद पर ही यह आरोप क्यों? क्या इस सम्बन्ध में दोनों (साम्यवादी और सच्चे धार्मिक) ही एक ऐतिहासिक भूल नहीं कर रहे हैं? अर्थात् एक दूसरे को गलत समझने की चेष्टा!

३. धर्म और साम्यवाद – दोनों ही विज्ञान के मूल-आधार-स्तम्भ पर प्रतिष्ठित हैं और दोनों ही विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से एक ही वस्तु सिद्ध होते हैं। विज्ञान द्वारा परिष्कृत लोकोपकारी सामाजिक गठन को ही साम्यवाद कहते हैं और विज्ञान द्वारा अन्वेषित नैसर्गिक नियमों को ही धर्म! असल में कुदरती विधान के मुताबिक सामाजिक-गठन ही सर्वहितकारी और वैज्ञानिक है। इसे आप साम्यवादी-समाज कहें या धार्मिक? पर चीज़ दोनों एक ही है। परन्तु आज विश्व की मल्ल-शाला में इन दोनों के हिमायतियों को परस्पर, विरोधी रूप में पाकर हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता और स्वतः ही हृदय में प्रश्न उठता है—ऐसा क्यों? तत्काल विवेक उत्तर देता है—ये दोनों ही धर्म, सम्प्रदाय और मतमतान्तर को एक ही चीज समझते हैं। एक साम्प्रदाय और मत को धर्म समझ कर छाती से चिपटाये हुए हैं और दूसरा धर्म को साम्प्रदाय और मतमतान्तर समझ कर घोर बहिष्कार कर रहा है। आश्चर्य तो यह है—कतिपय विद्वान् भी इसी भ्रममूलक

धारणा के शिकार बने हुए हैं। आज इस भूल का सर्वत्र कितना भयंकर परिणाम निकल रहा है ?

धर्म का वास्तविक अर्थ "कर्त्तव्य" ( Duty ) है।—"यतोऽभ्युदय निःश्रेयः सिद्धि स धर्मः" जिससे अभ्युदय अर्थात् उच्च अवस्था की प्राप्ति तथा निःश्रेयस अर्थात् सब से श्रेष्ठ और पूर्ण कल्याणमय जो स्थिति है उसकी प्राप्ति हो —वह धर्म है। सामान्य और विशेष भेद, से यह दो प्रकार की है। सामान्य वह है जो सब के लिये समान रूप से अनिवार्य हो और विशेष वह है जो विशेष अवस्था में विशेष समुदाय या व्यक्ति के लिये हो। एक तरह से ये दोनों ही एक दूसरे की अपेक्षा सामान्य और विशेष बनते हैं। एक कर्त्तव्य एक की अपेक्षा सामान्य और दूसरे की अपेक्षा विशेष भी है। जैसा कि पूर्व बता आये है।

इसके अलावा शब्दार्थके दृष्टिकोणसे "धर्म" शब्द "धृ" धातु से बना है—जिसका अर्थ है "धारण करना"। अर्थात् जो जिसको धारण करता है वह उसका धर्म है। यथा—अग्नि और ताप, इस भांति धर्मके अनेक भेद हो जाते हैं। देवता का धर्म, दानव का धर्म, मनुष्य का धर्म, पशु का धर्म, देश का धर्म तथा समाज का धर्म, सब का पृथक २ है। परन्तु सब में अलग २ व्यक्तिगत धर्म के रहते हुए भी सब में एक व्यापक सामान्य धर्म रहता है। मनुष्य और पशु के पृथक धर्म होते हुए भी दोनों में प्राणी-धर्म समान है और वो वह है जो प्राणीमात्र को धारण किये हुये हैं। तदनुसार ही मनुष्य-जीवन के विभिन्न भेद होते हुये भी सब मनुष्य में एक मानव-धर्म समान है—वह वो है जो मनुष्य के मनुष्यत्व को धारण करता है। जिस मानव-जीवन में जितने अंशों में मानव धर्म विद्यमान है वहाँ उतने ही अंशों में मनुष्यत्व होगा और जहाँ नहीं—वहाँ नहीं होगा। इस बात को परखने के लिये मनुभगवान ने दश लक्षण लिखे:—

धृति क्षमा दमो अस्तेय शौच इन्द्रिय निग्रहः।
धी विद्या सत्यमक्रोधो दसकम् धर्म लक्षणम् ॥

धैर्य्य, क्षमा, मन आदि का दमन, चोरी न करना, अन्दर और

बाहर की शुद्धि, इन्द्रियों का निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध न करना, ये सब हैं मानव धर्म के लक्षण। जहाँ ये हों वहाँ मनुष्य का मनुष्यत्व है और जहाँ ये जितने अंशों में नहीं हों वहाँ उतने ही अंशों में मनुष्यत्व का अभाव है। इस कसौटी पर दुनिये के सभी व्यक्तिगत और सामाजगत कर्मों को कस कर निश्चय किया जा सकता है कि वो धर्मानुकूल है या नहीं। इस दृष्टि से तो धर्म और साम्यवाद को परस्पर विरोधी सिद्धकरना कठिन ही नहीं असम्भव हो जायगा और आज के साम्यवादी और धार्मिक दोनों ही को लज्जित होना पड़ेगा।

४—**साम्यवाद और नास्तिकता**—जब साम्यवाद धर्म का विरोधी नहीं—फिर नास्तिकता का प्रचारक कैसे? मनु भगवान के शब्दों में तो "नास्तिको वेद निन्दकः" जो वेद अर्थात् ज्ञान की निन्दा करता है वह नास्तिक है। मैं पूछता हूं कि बुद्धिवाद का प्रसार करने वाला, ज्ञान-विज्ञान के अनुसार समाज का गठन एवं कर्तव्यों को निर्धारित करने वाला "साम्यवाद" नास्तिक है या बुद्धि पर ताला लगा, रूढ़ियों का गुलाम बना मौखिक ईश्वर ईश्वर की दुहाई देकर नित्य अवैदिक कार्य करने वाले एवं भांति २ के प्रपंच द्वारा किसान-मजदूरों का रक्त चूसने वाले आजकल के कलयुगी-आस्तिक नास्तिक हैं? आज कौन यह कहने का साहस करेगा कि साम्यवाद ने बुद्धि और विज्ञान की उपेक्षा की है? एक बार मास्को में साम्यवादी युवकोंके सन्मुख यह प्रश्न रक्खा गया कि 'तुम विज्ञान द्वारा प्रतिपादित किसी बात पर विश्वास करोगे या बाइबिल के उल्लेख पर"। नब्वे प्रतिशत वहां के युवकों ने उत्तर दिया विज्ञान पर–विज्ञान पर।

आप कहेंगे कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मानव जीवन की सर्वांग-पूर्ण उन्नति के लिए अध्यात्मिक उत्कर्ष अत्यावश्यक है और अध्यात्मिक उन्नति ईश्वरीय-अस्तित्व में विश्वास किये बिना सम्भव नहीं। परन्तु साम्यवादी तो आज इसका मखौल उड़ाते फिरते हैं।

पर वे ऐसा क्यों करते हैं? कभी कारण को भी ढूंढ़ने का प्रयास

किया ? ईश्वर से उन्हें कोई खास जन्मगत शत्रुता तो नहीं ? वे उससे अधिक शक्तिशाली भी नहीं और न उसके नियम के बाहर ही हैं। परन्तु जरा गम्भीरता पूर्वक विचारने पर स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि उन्हें ईश्वर के नाम से चिढ़ होने का कारण निराकार, न्यायी और समदर्शी प्रभु नहीं प्रत्युत उसका विकृत और मनोनुकूल कल्पित रूप है। जिस प्रकार पूञ्जीपति, साम्राज्यवादी और साम्प्रदायिकों ने धर्म की ओट में गरीबों को लूटा है—वैसे ही ईश्वर के आड़ में भी स्वार्थियों ने सत्य और न्याय का गला घोंटा है। वे जिस भांति धर्म के नाम पर विज्ञान विरुद्ध विविध सांप्रदाय और रूढ़ियों को मानते रहे—उसी तरह ईश्वर के नाम पर विविध काल्पनिक सृष्टि-संचालक एवं नियामक को मानते रहे। फल यह हुआ कि विज्ञान के प्रकाश में न तो खुदा चौथे आकाश पर नजर आया, न सातवें पर—अगर कुछ दीखा तो उसके नाम पर केवल सर्वत्र छल प्रपंच, व्यापार और पाशविक अत्याचार ! फिर भला मैं पूछता हूं—क्यों न शिक्षित-समुदाय को उससे घृणा हो जाय ? इसमें साम्यवाद का दोष है या ईश्वर और धर्म के बिगड़े साम्प्रदायिक रूप का ? जब कोई आज ईश्वर और धर्म का नाम लेता है तो उसका मतलब ईसाई-मुसलमान, सिख, सनातनी और बौद्ध-जैन आदि मजहब तथा उन द्वारा प्रतिपादित परमात्मा से होता है, न कि विशुद्ध वैदिकधर्म एवं ईश्वर से ! और साम्यवाद ईश्वर एवं धर्म की संज्ञा लेकर उन्हीं का बहिष्कार करता है, न कि वैज्ञानिक धर्म एवं ईश्वर का।

५—साम्यवाद और अध्यात्मिकता—साम्यवाद केवल भौतिकता का उपासक और अध्यात्मिकता का कट्टर शत्रु है—यह उन्हीं की धारणा है जिन्होंने न तो साम्यवाद को समझा और न अध्यात्मिक-उन्नति के विशुद्ध मार्ग को ही। चन्द अधकचरे साम्यवादियों के मुख से ईश्वर और धर्म का विरोध सुन कर झट ऐसी धारणा बना ली। अन्यथा सच तो यह है कि न तो समाजवाद के बिना सर्वाङ्गपूर्ण अध्यात्मिक उन्नति सम्भव है और न अध्यात्मिक उन्नति के बिना साम्यवाद की स्थापना या

स्थायित्व इस विषय में तो इन दोनों का चोलीदामन का सम्बन्ध है।

परन्तु नैसर्गिक नियमानुसार भौतिकता के आधार पर ही अध्यात्मिकता का निर्माण होता है और अनिवार्य भौतिक-आवश्यकताओं को पूर्ण हुए बिना मानव जीवन में अध्यात्मिकता का उद्भव होना कठिन है। यह ठीक है कि अध्यात्मिक-उन्नति हो जाने पर सब भौतिक वस्तुएं गौण और हेय रह जाती हैं, पर प्रारम्भ में तो यही उद्गार निकलते हैं—' भूखे भजन न होय गोपाला, लेलो अपनी कण्ठी-माला।" इसी से साम्यवाद सर्व प्रथम इस भौतिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति करता है और संसार को इसकी चिन्ता से मुक्त करना अपना पहला कर्तव्य समझता है। वह इस सत्य को खूब जानता है कि जिसे इस लोक में ही सुख शान्ति और उन्नत जीवन नहीं—परलोक में उसे क्या आशा कि वह उन्नत होगा? जिसने विश्व में फैले हुए असंख्य ईश्वर-पुत्रों से प्रेम नहीं किया वह ईश्वर से कब स्नेह करेगा? तभी तो प्राचीन ऋषियों ने लौकिक-उन्नति करते हुए परलौकिक का आदेश दिया है। इस लोक में नारकीय-जीवन व्यतीत कर परलोक में अध्यात्मिक-उत्कर्ष की कामना करना आत्मवञ्चना है। किन्तु आज पूंजीवादी सभ्यता में सर्वत्र यही हो रहा है। आज अध्यात्मिकता केवल पूंजीपतियों के मनोरञ्जन का साधन और गरीबों को फंसाने का गोरखधन्धा है। साम्यवाद का संस्थापक मोशिये लेनिन स्वयं अध्यात्मिक-उन्नति का आदर्श क्रम बताता है—अर्थात् "जब पार्थिव-जगत के ज्ञेय पदार्थों के विषय में अनुसन्धान करते ही वर्षों बीत जायंगे, तो फिर अज्ञेय विषय को लेकर, जिसे बड़े २ दार्शनिक, विद्वान, महात्मा और ऋषि-महर्षि चिरकाल से नहीं सुलझा सके हैं, उसमें तन्मय होकर पार्थिव-जगत् की क्रियाशीलताओं को भूल जाना मूर्खता नहीं तो क्या है? सब से पहले भर पेट भोजन, पहनने को वस्त्र, रहने को गृह-सुख और स्वास्थ्य के लिये सर्वसाधन एवं शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। उसके बाद नैतिक जीवन, मानसिक-उन्नति के उपकरण और तत्पश्चात् सौंदर्योपासना, कला, साहित्य और दर्शन फिर

कहीं अध्यात्मिक उन्नति की वारी आती है। भूखी, दरिद्र, अस्वस्थ और अशिक्षित जातियों ने कोई क्रियात्मक कार्य या अध्यात्मिक उन्नति ऐसी नहीं की जिसे ऐतिहासिक कह सकें। आर्थिक उन्नति और शिक्षा ही प्रधान और आरम्भिक उन्नति हैं।" क्या मानव-जीवन के सर्वाङ्गपूर्ण विकास एवं कल्याण के लिये ऋषियों ने उक्त वैज्ञानिक क्रम का ही प्रतिपादन नहीं किया ? फिर भला आज पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के खूँख्वार पंजे से संसार को मुक्त कर प्रथम भर पेट रोटी दिलाने की कोशिश में लगा हुआ साम्यवाद अध्यात्मिकता का शत्रु कैसे ? अभी तो वह सब पापों की जननी आर्थिक-दासता से ही मानवता को मुक्त करने में लगा हुआ है, अध्यात्मिकता की वारी तो अभी बहुत दूर है। हां, उसकी सम्बन्ध-शृङ्खला शुरू से ही आवश्य परस्पर सम्बद्ध होना चाहिए ताकि अन्त में कोई गड़बड़ी न हो। इसी से सब प्रकार की दासता, विषमता अज्ञानता और संकीर्णता का मूलोच्छेदन ही साम्यवाद का मुख्य आधार है। लेनिन के क्रियात्मिक जीवन में उक्त सत्य को प्राप्त कर ही लैंसवरी ने कहा था—"यदि मानव जाति में धर्म कोई चीज है तो आज तक मैं जितने मनुष्यों से मिला हूँ उसमें उस धर्म का अंश मैं लेनिन में सब से अधिक पाया है। वह सारे संसार को अपना स्वदेश समझता है और समस्त मनुष्य को सामानभाव से देखता है।" क्या यह वैदिक-जीवन का आदर्श उदाहरण नहीं है ? क्या अध्यात्मिक उन्नति का सरल एव प्रसस्त-मार्ग तथा उच्च भावना साम्यवाद के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं तेज चिराग़ लेकर ढूंढ़ने पर नहीं भी मिलेगा ? क्या पूंजीवाद और साम्राज्यवाद इस महान् आदर्श का घोर शत्रु नहीं है ! फिर सच्चा धार्मिक कौन ? साम्यवाद या......... ?

६. साम्यवाद और साम्प्रदायिकता—साम्यवाद और धर्म के बीच परस्पर शत्रुता उत्पन्न करने वाला कथित मजहब और उसका प्रपंच तथा सत्ताधारियों का कुत्सित षड्यन्त्र ही है। जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में स्पष्ट हो चुका है। यों तो मजहब भी समय पर स्वयं कोई बुरी चीज़

नहीं। यदि उसका उचित रूप में उपयोग किया जाय तो उससे कुछ लाभ उठाया जा सकता है। क्यों कि ये तो देश, काल और परिस्थिति के मुताबिक संसार के कल्याणार्थ विविध महापुरुषों द्वारा बताये गये विभिन्न मार्ग और उनके आचरण हैं। इनके अनुभवों से लाभ उठाकर मनुष्य को अपने वर्तमान को उन्नत बनाना चाहिये, परन्तु जब हम देश काल की उपेक्षा कर इनका अन्धानुकरण आरम्भ करते हैं, तब हम अपने मूल मकसद को भूल जाते हैं और मजहब संसार के लिये अफीम के समान भयानक हो जाता है।

सच तो यह है कि इतिहास वस्तुतः अन्धानुकरण की वस्तु नहीं—यह तो भूत के अनुभवों से वर्तमान को उन्नत और भविष्य को सरल एवं सुन्दर बनाने की चीज है। परन्तु हमने आज तक ऐसा नहीं किया, इसी से निरन्तर एक के बाद दूसरी क्रान्तियाँ होती आ रही हैं और हम अपने परम्परागत मानसिक दासता के कारण सदा एक गढे से निकलकर दूसरे में गिरते आ रहे हैं। फलस्वरूप आज समाज की छाती पर असंख्य साम्प्रदायिक फोड़े जगह २ फूट कर बह रहे हैं और स्वार्थी-समूह इसके आड़ में खुले बाजार अपना मतलब गांठ रहे हैं।

कोई साधन, कितना ही उत्कृष्ट क्यों न हो, पर हमेशा के लिये वह वैसा ही लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकता—विशेष कर परिस्थितियों के ज्ञान बिना लक्ष्य हीन अवस्था में तो वह सर्वनाश का कारण ही बनता है। यही नहीं प्रत्यक्ष हितों को ठुकरा कर सौ पच्चास समुदाय पृथक २ साधनों को कट्टरता के साथ व्यवहार करने लगे तो फिर परस्पर प्रतिकूलता के कारण "लाठी-सर सम्मेलन" अनिवार्य है ही। भारत का साम्प्रदायिक संघर्ष इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

यों तो यदि साम्यवाद भी मूल-सिद्धान्त और लक्ष्य को भूल कर अन्धानुकरण शुरू कर दे तो इसकी भी वही दशा हो जो अन्य सांम्प्रदायों की अब तक हुई। क्यों कि इसका भी प्रारम्भ लेनिन मार्क्स आदि महापुरुषों द्वारा ही हुई है। उनके बाद अनेक लोगोंने इसमें साधारण-संशोधन

हालात के अनुसार किया। यदि आज तक एक २ का अन्धानुकरण किया जाता तो क्षण-क्षण में बदलने वाली स्थितिचक्र में यह कब का चकनाचूर हो जाता। थोड़ा बहुत पूर्व में किया भी गया था, जिसके फलस्वरूप अनेक भागों में बट कर बुरी तरह विरोधियों द्वारा परास्त हुआ—जर्मन आदि में साम्यवाद की असफलता इसकी साक्षी है। परन्तु आज संसार सचेत है। रूस आदि की नीति-प्रवाह पर नजर डालते हुए ऐसी आशा नहीं कि यह पुनः अपनी भूलों को दुहरायेगा। यदि ऐसा करेगा और स्वार्थी व्यक्ति इसके आड़ में भी अपने व्यक्तिगत मनोरथ की सिद्धि करने लगेंगे तो फिर वही होगा जो अबतक होता आया—अर्थात् क्रान्ति-परिवर्तन और विद्रोह।

अस्तु साम्यवाद, दुनिया के प्रत्येक महापुरुष और उनके अनुभव-मतों से लाभ उठा कर वर्तमान मानव-समाज एवं जीवन को सब तरह से उन्नत और सुखी—सम्पन्न बनाने का पक्षपाती है—उनका विरोधी नहीं। विरोधी तो केवल उनके विकृतरूप और प्रविष्ट दुर्गुणों तथा अन्धानुकरण का है, न कि ईश्वर, धर्म और सच्चे साम्प्रदायों का। यह लोगों का भ्रम है कि वर्ग-कलह का कारण साम्यवाद और साम्प्रदायिकअनाचार का कारण धर्म कहते हैं। सच तो यह है कि इनका कारण धर्म और साम्यवाद का अभाव है। इनकी स्थापना के बिना उनका दूर होना असम्भव है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने सच कहा है कि—"साम्यवाद ही संसार के सब रोगों की एक मात्र औषधि है।"

७. पूंजीवाद और धर्म—पूंजीवाद में भी धर्म है पर मानव-धर्म नहीं। वहाँ तो दानव-धर्म है। पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का अस्तित्व ही इस दानव धर्म पर स्थिर है। अन्यथा सोचिए! चोरी और संग्रह के बिना, लोभ और असत्य के बिना तथा निरीह-मानव पर शासन किये बिना ये कैसे जीवित रह सकते हैं? यही तो असुरों का धर्म है—इनके अभाव में ये असुर ही कहाँ रह जाते हैं। आप पूंजीवादी दुनिये के कोने २ में घूम आइये! ढूंढ़ने पर भी मानव धर्म और मानवता

कहीं नहीं मिलेगा। सर्वत्र आपको दिखलाई देगा—ईश्वर और धर्म की दुहाई तो उनके पाप छिपाने के केवल साधन हैं। जाइये उन बम्बई के सेठ साहूकारों की ओर जहाँ मनुष्य के बच्चे दाने २ को तरसते फिरते हैं, पर सेठ जी घी की मिठाइयाँ गौवों को खिला कर पुण्य कमाते हैं। सूद और व्याज़ द्वारा हजारों परिवार को लूट कर नाश करते हैं, पर शनिचर का दान देकर पाप से बचते दीखते हैं। इतना ही नहीं अपितु किसान और मजदूरों का अमानुषिक शोषण कर उसमें से चन्द चाँदी के टुकड़े महन्त मठाधीशों और संस्थाओं को देकर धर्म करते नज़र आते हैं। यही तो पूंजीपतियों का धर्म है ? यदि और कुछ शेष है तो जरा उन वेश्याओं की मण्डी पर, कटती हुई गौवों पर, बेकारी से तङ्ग आकर होने वाले आत्महत्यायें और पतन पर तथा व्यक्तिगत मुनाफा के लिये जघन्य से जघन्य होने वाले अत्याचारों पर दृष्टि निपात करें ! पूंजीवाद में धर्म के वास्तविक स्वरूप का पता चल जायेगा। फिर तो आप कहेंगे कि इसका दान धर्म तो डाकुओं की दुर्गा पूजा है। तभी तो महात्मा ईसा ने कहा—"सुई के नाके से ऊँट का गुजरना सम्भव है पर धनिकों का स्वर्ग में प्रवेश मुमकिन नहीं।" इस सत्यता को कौन आज अस्वीकार कर सकता है ?

८—**साम्यवाद और व्यभिचार**—आज हमारे पूंजीवादी और साम्राज्यवादी अपने सिंहासनों को हिलता देख कर, अपने युगों के पाप पर प्रकाश पड़ता अनुभव कर, एकदम बौखला उठे हैं। "खिसि-यानी बिल्ली खम्भा नोचे" उक्ति के अनुसार हया-शर्म को ताक पर रख कर साम्यवाद पर लम्पटतापूर्ण दोषारोपण करना प्रारम्भ कर दिया है। अभी २ जिस नपुंसक अस्त्र को उठाया है वह—व्यभिचार है। जो साम्यवाद, समस्त पाप, पतन और व्यभिचार की आदि जननी "आर्थिक विषमता" का समूलोच्छेदन करने वाला कठोर कुल्हाड़ा है, उसमें व्यभिचार का आभास देखना अपनी कलुषित मनोवृत्ति का प्रति-बिंब प्रदर्शित करना है।

शक्ति के सदुपयोग का ही नाम सदाचार एवं दुरुपयोग की ही संज्ञा व्यभिचार है। जहां समता स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन है, परस्पर प्रेम सहानुभूति और उत्सर्ग की उन्मादना है और है विज्ञान का उज्ज्वल प्रकाश एवं उस वैदिक समाज को संस्थापित करने की उत्कट आकांक्षा —जिसके सम्बन्ध में शास्त्रों ने कहा है "न मेस्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नाग्नाहिताग्निर्नाविद्वान् न च स्वैरो स्वैरिणी कुतः" वहां व्यभिचार की आशङ्का ही कैसी ? इसका उद्भव तो वैदग्ध्य व्याधि से पीड़ित पूंजीवादी समाज में ही होता है। जहां एक तरफ कुछ व्यक्ति शक्ति-साधन सम्पन्न वस्तु-बाहुल्यता के नशे में पशु की भांति उन्मत्त हों और दूसरी तरफ कोटि २ नरकङ्काल सब प्रकार से शक्ति साधन हीन अभाव ग्रस्त निरीह हो ! एक स्वतन्त्र हो दूसरा परतन्त्र ! एक की पैशाचिक पिपासा की परितृप्ति के लिये दूसरे को वाध्य होना पड़े। यदि लांछित निपीड़ित और निर्यातित प्राणी न हों और न ही हो स्वच्छन्द उत्पीड़िकों का समूह—वहां पापाचार कैसा ? इसी से तो पाप, पतन और व्यभिचार का नंगा नाच हमें पूंजीवादी और साम्राज्यवादी देशों में ही विशेष रूप से मिलता है और विशेष कर इन दो वर्गों के बीच।

जरा आखें खोल कर मिलों में काम करने वाले मजदूर और उनके मालिकों का काम-कर्दम-निमज्जित जीवन तो देखें। राजा महाराजा और नवाबों के हरम और रनिवास की शोभा बढ़ाने वाली दास-दासियों का वीभत्स रौरव-लीला तथा धर्म गुरुओं के गुप्त चकलों को सजाने वाली देवदासियों और रखेलियों के नारकीय जीवन पर दृष्टि निपात करें। यही नहीं उदर-दरी भरने के लिये संसार की मण्डी में व्यभिचार का सौदा बेचने वाली वेश्याओं का पाप व्यापार एवं होटलों की आमदनी बढ़ाने वाली तितिलियों की विवशता और लक्ष्मी वाहन सत्ताधारियों के घृणित हथकंडों पर नज़र तो डालें ! इन्हें देखकर नृशंसता भी तो मुँह फेर लेती है। अपनी वासना पूर्ति के लिये ललनाओं की खुले बाजार खरीद बिक्री, नन्हे २ सुकुमार बच्चों को गिलमा बना अपनी पाशविक-पिपासा का

परिशमन, साठ २ वर्ष के बूढ़ों की छाती पर सोलह २ साल की दर्जनों नागनियों का लोटना और नन्हीं २ दुधमुहीं बच्चियों के साथ अप्राकृतिक दुराचार, सब सरमायादारी का ही तो सौगात है। एक तरफ धनपतियों के घर में वैवाहिक बन्धन में बंधी सैकड़ों सुकुमारियों का मूक पशु जीवन, एक पुरुष की प्रतीक्षा में अतृप्त पिपासा लेकर पापाचरण में प्रवृत्त हो रही हैं, तो दूसरी तरफ असंख्य युवक समुदाय स्त्रियों के अभाव में भांति २ के कृत्रिम कुकर्म में फंस रहे हैं। पुंजीवाद के पापस्वरूप स्त्री पुरुष दोनों में अप्राकृतिक, गुप्त और पशु व्यभिचार का प्रसार हुआ और समाज नैतिक पतन का रङ्गस्थल एवं कामुक-किटाणुओं का क्रीडा-क्षेत्र बना, जहाँ दिन दहाड़ पुरुषत्व को पशुत्व के रूप में बदल कर वासना की वेदी पर नारीत्व का नृशंस वलिदान होता है। गृहलक्ष्मियाँ विवाह का पास पोर्ट लेकर गृह वेश्या बनाई जाती हैं। साहित्य, चाँदी की चमक में और कुन्दन की दमक में मनोरञ्जन का मसाला जुटाता है। लेखक और कवि युग धर्म के विरुद्ध निर्लज्ज शृङ्गार को कला का रूप देकर हृदय की प्रसुप्त वासना को भड़काते हैं। नाच घर, सिनेमा, स्टूडियों और पाप के अड्डों का निर्माण होता है और सभी लक्ष्मी की अट्टहास से अच्छादित हो जाते हैं। अध्यात्मिकता और कला का रूप धारण कर लेते हैं और करते हैं न्याय, धर्म, समाज और इनके अधिकारी प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से सब का समर्थ-प्रोत्साहन। क्यों ? पूंजी और सत्ता के प्रभाववश ही तो ? इस भांति स्पष्ट है कि पूंजीवाद और साम्राज्य-वाद से ही समस्त पापों का उद्भव हुआ है, जो इनके साथ ही दफनाई जा सकती हैं। आश्चर्य है कि आज पूंजीवादी और साम्राज्यवादी सब पापों का विनाशक साम्यवाद में ही व्यभिचार होने का ढोल पीटते हैं और करते हैं उसे बदनाम करने की घृणित कुचेष्ठा। पर संसार आज उनकी चालों से खूब परिचित है।

६. साम्यवादी रूस और व्यभिचार :—रूस में अभी रूसियों के भागीरथ प्रयत्न से परिवर्तन का पहला ही अध्याय खुला है। फिर भी

वहाँ सामाजिक कुरीतियों का प्रायः अन्त सा हो चला है। वहाँ मातृ जाति पुरुषों के पैर की जूती, बच्चे पैदा करने की मशीन अथवा भोग की सामग्री नहीं, किन्तु वह स्वतन्त्र स्वावलम्बी और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के ही समान है। विवाह उनके लिये बन्धन या पेट पालने का पेशा नहीं अपितु दो हृदयों का सम्मिलन है। प्रत्येक को स्वयंवरण की स्वतन्त्रता है और किसी विशेष अवस्था में विषमता उत्पन्न होने पर सम्बन्ध विच्छेद की पूरी आजादी है, फिर गुप्त व्यभिचार और भ्रूण-हत्याओं के अस्तित्व की आशंका ही कैसी? मौरिस-हिंदस का कथन है "साम्यवाद में स्त्री पुरुष को मनोऽनुकूल शादी करने औ तलाक देने का जो अधिकार मिला, उसकी वजह से वहाँ वेश्यावृत्ति की जरूरत ही नहीं रही।" इसी से वहाँ न तो पूंजीवादी देशों की तरह पाप व्यापार की बड़ी २ मण्डियाँ हैं और न कोई खरीद फरोख्त करने वाले ही दिखाई देते हैं। न वहाँ धनपतियों के रंग-महल और राजे महाराजों के हरम हैं, न हूर ग़िलमाओं का नारकीय जीवन। जो जारशाही के समय के अवशेष थे उन्हें भी कठोरता पूर्वक शिक्षा, रोज़गार, और चिकित्सा द्वारा नष्ट कर दिया गया। इसके लिये बड़े २ अस्पताल, कारखाने और शिक्षणालय खोले गये। तब कहीं साम्यवादी सरकार पूंजीवाद का अनिवार्य पाप-व्यभिचार को दूर करने में समर्थ हुई। फिर भला उनके जीवन से हृदय विदारक आहें, क्यों उठे? उनकी गृहस्थी महाभारत का रणक्षेत्र और नरक की क्रीड़ा-स्थली क्यों बने! क्यों उनके समाज के नर-नारी अभावग्रस्त हो अप्राकृतिक दुष्कर्म में प्रवृत्त हों?

परन्तु रूसी यूथ लीग के अध्यक्ष अलेक्ज़ेण्डर कोसियारोव के शब्दों में 'इस स्वतन्त्रता में उच्छृङ्खलता नहीं, इसके माने यह नहीं हैं कि जो जब चाहे सम्बन्ध जोड़-तोड़ लें। जो लोग तलाक के कानून का दुरुपयोग करते हुये पाये जाते हैं उनकी गणना कानून भङ्ग करने वालों में की जाती है। हमारी लीग की युवक-युवतियाँ जब जल्दबाजी या आवेश में विवाह कर लेती हैं तो उन्हें पूरी कैफियत देनी पड़ती है।

हमारी लीग के कम से कम आधे सदस्य विवाहित हैं।* उनके परिवारिक जीवन का हमें जो ज्ञान है उसके आधार पर हम यह जोर देकर कह सकते हैं कि किसी भी राष्ट्र के परिवारिक जीवन से उनका जीवन कम सुखी नहीं है।"

आज साम्यवादी सरकार रूस के चरित्रगठन में सब प्रकार से संलग्न है। अलेक्जेण्डर महोदय ने तो इतना कुछ कह डाला है—"हम-लोग ( सोवियट वाले ) कभी भी नहीं चाहते कि वैवाहिक सम्बन्ध में किसी तरह का अन्धाधुन्ध या गड़बड़ी हो और गर्भपात एवं भ्रूणहत्याओं की वृद्धि हो। हम लोग चाहते हैं कि युवक-युवतियाँ गम्भीरतापूर्वक सोच विचार कर ही वैवाहिक सम्बन्ध में जुटें। इस सम्बन्ध को पवित्रता पूर्वक निबाहें और विशाल परिवार का निर्माण करें। हम लोग चाहते हैं कि नई पीढ़ी बलवान और चरित्रवान हो।" इसके लिये उन्हें सब तरह से आदर्श और स्वास्थ्यप्रद मनोरंजनों का संग्रह किया जाता है। विश्व को सम्पन्न और सुखी देखने की उच्च अभिलाषाएं जाग्रत की जाती हैं। उनका परिवारिक जीवन हमारी तरह संकुचित नहीं, वह विकासशील होकर अंत में "वसुधैव कुटुम्बकम्" के रूप में बदल जाता है। इसी से आज उनकी प्रवृत्ति पशु-ताड़ना की तृप्तिकी ओर से क्रमशः हटकर समाज निर्माण में जोरों के साथ लगी हुई है। इस सम्बन्ध में यूथलीग के प्रधान की सम्मति पठनीय है—"असल बात यह है कि हमारे युवकों की मनोवृत्ति में इस समय भारी क्रांति उपस्थित हो रही है। उनकी प्रवृत्ति चारों ओर से हटकर शिक्षा की ओर सब से ज्यादा झुकी हुई है और वे रूप के माया-मोह में न पड़कर रूप का प्रत्यक्षी-करण चाहते हैं अथवा दूसरे शब्दों में वे भौतिकता को अपना गुलाम बना लेना चाहते हैं। किसी समय रूस के कालेजों में दर्शन, साहित्य और ललित-कला का प्राधान्य था, लेकिन आजकल अर्थशास्त्र, साइन्स, इञ्जिनियरिङ्ग और विशिष्ट-ज्ञान की ओर छात्रों का सब से अधिक झुकाव

*इस लीग के पचासों लाख युवक-युवतियाँ सदस्य हैं।

है। राजनीति के विद्यार्थी तो बड़ी कठिनाई से मिलते हैं। युवकों का ख्याल है कि विज्ञान और शक्ति निर्माण ही भविष्य का मालिक है—उनका ख्याल ठीक भी है" सोचिए। भला यहाँ अनैतिकता कैसे पर मार सकती है ?

इस चित्रण द्वारा पाठक यह न समझें कि लेखक रूसियों को एकदम देवता ही समझता है। मानव जीवन के साथ तो अपूर्णता का अभिशाप लगा ही हुआ है। फिर भी—आधुनिक पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की छत्रछाया में पनपने वाले पाश्चात्य देश अभी कल के उठे हुए रूस के सामने आकर देखें—स्वार्थपरता और उत्सर्ग, राहू-डकैती और निर्माण का अन्तर स्पष्ट हो जायगा! सवा दो सौ वर्ष के अंग्रेजी राज्य का भारतीय इतिहास तो इस तुलना में गर्दन ही झुका लेगा। इस तुलनात्मक प्रणाल द्वारा गम्भीर विचार करने के पश्चात् आप स्वयं कह देंगे कि रूस आधुनिक विश्व का आदर्श है। हाँ क्रांति के पश्चात् प्रतिकार के उन्माद में उनके अन्दर भी कुछ त्रुटियाँ आ गई थीं पर वह कितनी शीघ्र दूर हुई हैं, यह भी विचारणीय है ? युगों के जघन्य-जीवन को सुधार कर आदर्श और पवित्र बनाना कोई खेल तो नहीं—साम्यवादी रूस ने किस खूबी से इस में सफलता प्राप्त की है—दुनियादार यह देखकर दंग हो रहे हैं। फिर भी अलेक्जेण्डर महोदय के शब्दों में :—

"साम्राज्यवादी राष्ट्रों में सोवियट रूसकी चारित्रिक हीनता के सम्बन्ध में जो भ्रमपूर्ण बातें फैलाई जा रही है, उन्हें लोग अच्छी तरह से जानते हैं। कहा जाता है कि सोवियट रूस के प्रेम की स्वच्छन्दता है। प्रेमी और प्रेयसी विवाह करते हैं और सप्ताह भर तक रास-रङ्ग खेलकर फिर अलग हो जाते हैं। दूसरे ही सप्ताह में देखिये तो उनका परस्पर फिर कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसमें सचाई का कुछ अंश अवश्य है, क्यों कि क्रांति के युग में इस तरह के कुछ सिद्धान्त प्रचलित हो गए थे और उनका कारण था स्त्रियों के प्रति समाज के सदियों का अत्याचार, पर वह सब

अस्थाई था, सिर्फ पुरानी बेड़ी को तोड़ने के लिये और समाज में नया आर्डर स्थापित करने के लिये था। पर न तो इस भाव ने कभी सार्वजनिक रूप धारण किया और न यह सोवियट रूस का स्थिर उद्देश्य था। यह अराजकता थी और यदि इसे उसी तरह जारी रहने दिया जाय तो समाज में अराजकता फैल जायगी। वह युग बीत गया। अब हमारे युवक और युवती अपनी मानसिक, शारीरिक और चारित्रिक सुधार और उन्नति इस भांति करना चाहते हैं, ताकि वे संसार में आदर्श युवक और युवती माने जाय। सोवियट रूस उनके इस उच्च आदर्श को आदर की दृष्टि से देखता है और अभिमान के साथ उनकी सहायता करने को उद्यत रहता है। हममें आत्मसंयम होना चाहिये, हमारा व्यक्तिगतजीवन सुदृढ़ और सुसङ्गठित होना चाहिये और अपने जीवन में सहचर या सहचरी के प्रति आदर, श्रद्धा अनुराग और दृढ़ता होनी चाहिये।" यह है साम्यवादी रूस का आदर्श। परन्तु इतना होने पर भी ध्यान रहे रूस साम्यवाद का प्रयोगशाला है—पथ प्रदर्शक नहीं।

**१०—पूंजी पर वैयक्तिक या सामाजिक अधिकार**—होने से हानि-लाभ का विवेचन दो प्रकार से सम्भव है, एक तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तथा दूसरे ऐतिहासिक। पूंजीपतियों का कहना है कि मनोविज्ञान के अनुसार जब तक किसी वस्तु के प्रति मनुष्य का स्वार्थ, ममत्व और अपनत्व का भाव नहीं रहता तब तक उसकी उन्नति, रक्षा और सुव्यवस्था में उसकी प्रवृति नहीं होती। पूंजी पर सामाजिक अधिकार होने से उक्त भावों का सर्वथा अभाव हो जाता है। जिससे समाज की पर्याप्त हानि होगी। साथ ही वे फैसिस्ट नीति का आश्रय लेकर यह भी कहते है कि सभी पूंजीपति और साम्राट अत्याचारी ही नहीं होते। इतिहास में ऐसे बहुत लोगों का जिक्र आता है, जिन्होंने अपनी सम्पत्ति से खूब जनता की सेवा की है, राजा हरिश्चन्द्र, राणा प्रताप और भामाशाह आदि ने कब अपनी सम्पत्ति एवं अधिकार का दुरुपयोग किया? भला चन्द व्यक्तिओं के अत्याचार के कारण सब का अधिकार छीन

लेना कहाँ का न्याय है ?

इसके उत्तर में साम्यवाद का कहना है कि हम मनोविज्ञान की उपेक्षा नहीं करते अपितु उसके अनुसार ही मनुष्य की दुर्बल प्रवृत्तियों को ऐसा करके नियन्त्रित और उसके स्वार्थ, ममत्व एवं अपनत्व भाव को विकसित करते हैं, नष्ट नहीं। व्यक्ति को परिवार और परिवार को समाज के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। दूसरे सामाजिक अधिकार का अभिप्राय समाज पर समाज का ही नियन्त्रण है। अन्यथा किसी भी हालत में किसी कार्य की पूर्ति किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत जिम्मेवारी के पालन से ही होगी ? साम्यवादी रूस में सब अपना २ काम पृथक २ ही तो करते हैं ? परन्तु उन पर समाज का नियन्त्रण रहता है,ताकि वे उसका दुरुपयोग न कर सकें। ऐसा करने का स्पष्ट कारण भी है-वासनाएं मनुष्य को प्राकृतिक रूप से सङ्कीर्णता की ओर खीचती हैं, जिसके कारण वह अनिवार्य रूप से अधिकार का दुरुपयोग करने लगता है। व्यक्तिगत एकाधिपत्य में तो इसकी सम्भावनाएं ही नहीं बल्कि अनिवार्य है। इतिहास में इसकी हजारों साक्षी है। उँगली पर गिने जाने वाले चन्द व्यक्तियों की बातें छोड़ दें। इसका निश्चय तो मानवी प्रवृत्ति के आधार पर तथा ऐतिहासिक घटनाओं के बहुमत द्वारा ही हो सकता है।

दूसरे यह कहना कि स्वार्थ, ममत्व और अपनत्व-भाव से ही सभी मनुष्य किसी वस्तु की उन्नति, रक्षा और सुव्यवस्था करते हैं—यह भी सर्वांश में सत्य नहीं। यह योरप वालों के लिये भले ही कहा जाय, पर भारत के लिये कहना कठिन है। यहां तो इस भाव को पद २ पर हेय और निकृष्ट माना गया है। यहां तो सब कुछ ईश्वर का और ईश्वरार्पण करके ही किया जाता रहा है। पर भारत की उन्नति संसार को वर्तमान किसी भी राष्ट्र से कभी कम थी—यह कहना कठिन है ! स्वार्थ आदि तो मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था में ही रहता है। ज्यों २ उसका जीवन विकसित होता जाता है त्यों २ वह कर्तव्य का रूप धारण करता

जाता है ! साथ ही मनुष्य कभी भी केवल अपने ही लिए सब कुछ नहीं करता और न कभी किसी वस्तु पर एकाधिपत्य ही कर पाता है। वह सारा कार्य किसी न किसी दायरे में बंधा ही हुआ करता है। चाहे वह परिवार का दायरा हो या उससे और तंग ? इस सङ्कीर्ण सीमा के विकास में ही मानव-जीवन की सफलता है। जिसके लिए साम्यवाद प्रयत्नशील है !

इसके अतिरिक्त पूंजी पर सामाजिक अधिकार होने से उस पर सब का ममत्व और देखभाल रहेगा। सङ्गठित पूंजी और सामूहिक सहयोग से प्रत्येक दशा में अत्यधिक सफलता मिलेगी। जैसा कि आज रूस में सब को मिल रही है। पूंजीवादी देशों में भी (Share) शेयर पर सञ्चालित कम्पनियां इसके जीते जागते उदाहरण हैं। इस प्रकार पूंजी पर सामाजिक अधिकार होने में ही सब को लाभ है।

११—क्या पूंजीपति भी मजदूर हैं ?—कुछ लोग कहते हैं—हां ! क्योंकि वे भी प्रबन्ध में, पूंजी एवं कारोबार की उन्नति में तथा मजदूरों से काम लेने की देखभाल में मेहनत करते हैं और बदले में मुनाफा के रूप में पुरस्कार लेते हैं। फिर उन्हें पराश्र-भोजी कहना अन्याय नहीं तो क्या है ?

परन्तु वस्तुतः कितने पूंजीपति उक्त प्रकार से श्रम करते हैं, भला बड़े २ कम्पनियों के शेयर-होल्डर कितना कारोबार में परिश्रम करते हैं ? जमींदार और सत्ताधारी कितना कृषि आदि की उन्नति में योग देते हैं ? उन्हें मालगुजारी और टैक्स के सिवा और ख्याल ही क्या रहता है ? यह भी तो सब नीचे के करिन्दे ही करते हैं ? उन्हें तो सिर्फ मौज करना ही केवल काम है। सच तो यह है बहुतों को तो मुनाफे के अलावा और किसी वस्तु का ज्ञान भी नहीं रहता और उनका जीवन सदा देश विदेश के सैर एवं ऐशोआराम में ही समाप्त हो जाता है। भला लण्डन का व्यापारी भारत की कम्पनियों को कब सम्भालने आता है ? सब को घर बैठे मुनाफा की चिंता है और चिंता है केवल किसी

न किसी नीति द्वारा उस शोषण को बढ़ाने की।

मैं मानता हूँ कि कुछ थोड़ेसे पूंजीवाले व्यवसायी कुछ परिश्रम इस प्रकार से करते भी हैं। पर इसके लिये उन्हें पुरस्कार क्या दिया जाय? उचित तो यह है कि अन्य मजदूरों की तरह उन्हें भी समानरूप से भरण-पोषण भर सभी वस्तुएं मुहय्या की जायं। परंतु वे इससे कब सन्तुष्ट हैं? वे तो चाहते हैं कि प्रत्येक मजदूर यदि आठ आना रोज मजदूरी लेता है तो वह हमें एक रुपये का काम दे—यह अधिक पैसे सब हमारे पूंजीपतियों के पेट में जाते हैं। इतना ही नहीं बल्कि उनका यह सदा प्रयास रहता है कि कम से कम मजदूरी दी जाय और अधिक से अधिक काम लें और मुनाफा उड़ायें। मजदूर कहते हैं कि हमारे कमाई का यह अधिक भाग तुम्हें लेने का क्या हक है? यदि कहो कि पूंजी के बदले में लेता हूं, तो मैं पूछता हूँ कि प्रकृति की दी हुई पूंजी भूमि आदि पर तुम्हें एकाधिपत्य स्थापित करने का क्या अधिकार है? और इससे भिन्न जो आज कल कारखाने के रूप तथा पैसे के रूप में जो पूंजी है—वह क्या हम लोगों के परिश्रम का चुराया हुआ भाग नहीं है? फिर भला तुम्हें परान्नभोजी-पैरासाइट क्यों न कहा जाय?

दूसरे पूंजीपति देख भाल ही क्या करते हैं—प्रायः सारा प्रबन्ध तो मजदूरों की विभिन्न श्रेणियों द्वारा ही होती है। ठीक वैसे ही जैसे जेल का प्रबन्ध सब कैदियों से ही करायी जाती है। पर नाम होते हैं जेलर बाबू या जेल सुपरिंटेण्डेण्ट का और नाममात्र के चन्द अधिकारी इधर उधर दौड़ते रहते हैं।

इस प्रकार यह भली भांति स्पष्ट है कि बड़े २ पूंजीपति, जमींदार और सत्ताधारी तो केवल दूसरों की कमाई पर ही गुलछर्रें उड़ाते हैं। चन्द टुटपुञ्जीये कुछ परिश्रम भी करते हैं तो केवल अपनी आमदनी को बढ़ाने में ही। इसलिये किसी भी पूंजीपति को सच्चा श्रमकार कहना चोर को मजदूर कहना है! क्योंकि चोर भी तो चोरी करने में मेहनत करता ही है!

१२. साम्यवाद में कला-कौशल:—"साम्यवाद सभी श्रेणी ( class ) और प्रकार ( kind ) की योग्यता और श्रम का समान पारितोषिक प्रदान कर कला-कौशल और विशेष प्रतिभा की हत्या करता है। "जब सब धान साढ़े बाईस पंसेरी' ही बिकना है, फिर अधिक श्रम कर वस्तु को सुन्दर और उत्कृष्ट बनाने का प्रयास कौन करे ? क्यों करे ? अब तक राजा महाराजा और धनवानों द्वारा विशेष प्रतिभा-पुरस्कृत होकर संरक्षण और प्रोत्साहन पाती रही—अब वह भी न रहा। यदि कुछ शेष रहा तो केवल कला को उपयोगिता की कसौटी पर कसनेका एक मात्र कठोर कांटा।" ऐसा भ्रम पूंजीवादी दुनिया में फैलाते हैं।

पर वास्तव में देखा जाय तो साम्यवाद प्रत्येक स्त्री-पुरुष को समान-रूप से अपनी योग्यता और शक्ति के विकास का सम्पूर्ण साधन तथा स्वाधीनता पूर्वक अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने का अवसर और समाजका विस्तृत क्षेत्र प्रदान कर, न केवल कला-कौशल एवं प्रतिभा की रक्षा और सर्वाङ्गपूर्ण विकासही करता है,बल्कि मानव-जीवन में कला-कौशल के प्रति अभिरुचि उत्पन्न कर प्रोत्साहित भी करता है। कला-कौशल भी वर्ग-विशेष के संरक्षण से निकलकर समाज के प्रसस्त प्राङ्गण में उन्मुक्त विचरने लगता है। उपयोगिता से शून्य कभी न तो वह था और न हो ही सकता है। हाँ, पूंजीवाद के संसर्ग से इसकी उपयोगिता एक संकुचित परिधि में कैद जरूर हो जाती है। पर साम्यवाद कला और कलाकार के व्यक्तित्व को इस संकीर्ण सीमा से निकालकर महान् बनाता है। जिससे कला और समाज का तदात्म होता है और "कला कला के लिये" न होकर कला समाज के लिये हो जाती है। कला और समाज दोनों ही की मूर्त-पिपासा का परिशमन होता है और दोनों की ही एकांकी जीवन-सफल !

हाँ, समाज कलाकार को उसकी प्रतिभा और श्रम का मूल्य क्या दे यह उसकी स्थिति और वस्तु की उपयोगिता पर निर्भर है। संसार में किसी को कभी पैसा पुरस्कार मिलता है तो किसी को कभी सम्मान।

साम्यवाद प्रथम को तो तिरस्कार की दृष्टि से देखता है, पर साधनरूप मान कर द्वितीय का विरोधी भी नहीं। पर उसका आदर्श है—मानव-श्रम और प्रतिभा को पैसे और सम्मान प्राप्ति के लोभ से छुड़ा कर निस्स्वार्थ और निस्पृह भाव से समाज सेवा और कर्त्तव्य-पालन के रूप में परिवर्तित करना, और उसके भरण-पोषण एवं जरूरी आवश्यकताओं का उत्तरदायित्व समाज पर डाल कर श्रमकार को आर्थिक चिन्ताओं से पूर्णतया विमुक्त कर देना।

प्रायः उच्चकोटि का प्रतिभावान कलाकार तो 'कर्मण्ये वाधिकारस्ते' की प्रेरणा से ही समाज-सेवा में प्रवृत्त होता है। उसका प्रत्येक कार्य "मा फलेषुकदाचन" के आदर्श से ओत-प्रोत रहता है। वह समाज के तद्रूप होकर "स्वान्तः सुखाय" कला का निर्माण करता है। मनु भगवान ने भी कहा है:—

'अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमा।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो ही महत्तां धनम्'॥

इस पूंजीवादी व्यवस्था में भी ऐसे महान् आत्माओं का सर्वथा अभाव न हो सका, फिर समाजवाद में इनके बाहुल्य में क्या सन्देह! रही मध्यम और निकृष्ट श्रेणी वालों की बात, उन्हें श्रद्धा-सम्मान और साधन-सुविधा प्रदानकर उनकी शक्ति से लाभ उठाया जा सकता है। यह समयानुसार आप ही निश्चित होती रहती है। यह साधन है, साध्य नहीं। साध्य की सिद्धि के लिये साधन में समयानुसार परिवतन अनिवार्य है।

"साम्यवाद श्रम और योग्यता का समान पुरस्कार भेंट करता है" इसका अर्थ यह नहीं; कि वह सबको माप-तोल और रूप में भी समान मूल्य प्रदान करता है। ऐसा निष्कर्ष निकालना तो अपनी अनभिज्ञता का परिचय देना है। इसका अभिप्राय तो प्रत्येक व्यक्ति से समाजहित शक्ति और योग्यतानुसार सेवा लेकर सामाजिक जीवन के साथ सब की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को यथासाध्य उसके अनुकूल पूर्ण करना है। बच्चे

जवान और बूढ़ों के भोजन वस्त्र और कार्य में भेद रहेगा ही। कोई दूध पीयेगा, कोई रोटी खायेगा और कोई चावल। किसी को शिक्षा चाहिये, किसी शिक्षित को काम और किसी थके सैनिक को विश्राम। सब के कार्य और आवश्यकता में भेद है। पर मनुष्य के नाते सब समान हैं और सभी को मानवी आवश्यकताओं की जरूरत है जिसे पाने का प्रत्येक मनुष्य अधिकारी है। मानवता को कायम रखने और विकसित करने वाले समस्त उपकरण के साथ अवसर और क्षेत्र की समान सुविधा और साधन प्राप्ति सभी मनुष्यके लिये जरूरी है। इसमें कोई भेद नहीं। हाँ, यदि समाज सेवा के लिये पुलिस को वर्दी और प्रधान मन्त्री को मोटर चाहिये—तो वह साम्यवाद देने का विरोधी नहीं! यह व्यक्ति के लिये नहीं वरन् समाज के लिये है। पर उनके व्यक्तिगत खर्चे में कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता कि एक के लड़के की शिक्षा दूसरे से अलग और विशेष हो। बच्चे तो राष्ट्र की सम्पत्ति है। दोनों का उत्तरदायित्व समाज पर है। इसलिये उन्हें अपनी शक्ति के विकास का समान साधन मिलना आवश्यक है। किसी के पैतृक प्रभाव के कारण नहीं। इसी प्रकार व्यक्तिगत और गृहस्थी के सम्बन्ध में भी है। साम्यवाद में तो स्त्री-पुरुष प्रत्येक को श्रम करना होता है और आवश्यकतानुसार सब को समाज से मजदूरी मिलती है। हाँ, मज़दूरी के सम्बन्ध में मार्क्स ने कहा है "श्रम शक्ति का मूल्य उतना ही है जितने में मज़दूर गुजारा कर सके।" यजुर्वेद चालीसवें अध्याय के प्रथम और द्वितीय मन्त्र में भी तो यही कहा गया है:—

ईशावास्यमिदं ँ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

"जो कुछ इस संसार में है वह सब परमपिता परमात्मा से आच्छादित है अर्थात् उसकी ही है। ऐ मनुष्य! उसे त्यागपूर्वक भोगकर और

किसी का धन लेने की इच्छा मत कर। इस प्रकार कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की अभिलाषा रख। ऐसा मनुष्य कर्म में लिप्त नहीं होता और न व्यथित होता है"। इस पवित्र वेद-मन्त्र में साम्यवाद के सारे मूल तत्वों को किस सुन्दरता के साथ सन्निहित किया गया है ? इसके अतिरिक्त दुनिया में श्रम और योग्यता के मूल्य आंकने की अन्य न्याय पूर्ण उचित कसौटी ही क्या है ? जिसके आधार पर भारत के वायसराय को २१ हजार वेतन दिया जाय और अभागे भारतीय पुलिस एवं क्लर्क को १६) रुपये और ४०) रु०। इसे लूट नहीं तो क्या कहें ?

१३. पूंजीवाद में कला-कौशल:—राजा और श्रीमन्तों द्वारा भी कला-कौशल का संरक्षण हुआ और प्रोत्साहन मिला, वैसा ही जैसा मुसलमानों द्वारा मुर्गी को। पेट के लिये प्रतिमा की बिक्री हुई। कला-कौशल को गुलाम बना वासना की वेदी पर हलाल किया गया। कलाएँ मुर्गे-बिस्मिल की तरह तड़पी और छटपटाईं। उनके सुन्दर २ पंख नोच कर विलासिता की बटलोही में टुकड़े २ कर पकाई गई और साम्राटों के थाल में भोग करने के लिये भेंट की गई। पंखों को एकत्रित कर "कौशल" के साथ दफना कर कब्रस्तान के रूप में खड़ा किया गया। संसार ने देखा और कहा—अहा ! ताजमहल कितना सुन्दर है !! बस !!! यही है पूंजीवाद और साम्राज्यवाद में कलाकौशल का संक्षिप्त इतिहास ! यह होना अनिवार्य भी है।

कलाकौशल के सर्वाङ्ग पूर्ण विकास और उन्नति के लिये सर्व प्रथम अध्ययन की आवश्यकता है और पश्चात् उसके प्रयोग एवं प्रदर्शन के लिये अवसर क्षेत्र की। पूंजीवाद में तीनो ही आधार एक दम पंगु हैं। न तो प्रत्येक व्यक्ति के पास अध्ययन का पूरा साधन ही है और न कोई स्वाधीन अध्ययन ही कर सकता है। सभी को पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के निश्चित घेरे में ही चक्कर काटना पड़ता है।

उन्हीं की तराजू पर उनकी उपयोगिता और उत्कृष्टता का माप तोल होता है। उन्हीं के चरणों में प्रतिमा प्रदर्शित करना पड़ता है उन्हीं की

मर्जी पर सबका भविष्य निर्भर रहता है। क्षेत्र संकुचित होने से सबको अवसर भी नहीं मिलता। जिसकी लग गई उसकी पांचों घी में, अन्यथा सारा जीवन टापते रहे! हां, यदि साधन, सुविधा, अवसर और क्षेत्र निश्चित रूपसे प्राप्त है तो वह सम्राट् और सेठों को न कि भूख से बिलबिलाते हुए अभागे कोटि २ नरकंकालों को।

इस प्रकार पूंजीवाद में कला-कौशल और प्रतिभा का सर्वांभिमुखी स्वाधीन विकास अवरुद्ध हो जाता है। एक तरफ अनन्त प्रतिभावान मानव साधन क्षेत्र और अवसर के विना अपनी शक्ति को खोता है तो दूसरी तरफ असंख्य मानव समूह उन सब की सेवा से लाभ उठाने से वंचित रह जाते हैं। स्वच्छन्द एकाधिपत्य होने से पूंजीवादी उन विवश प्रतिभा का घोर दुरुपयोग भी करने लगते हैं। जैसा कि आज सवत्र नरमेध की तैय्यारी में हो रहा है और पहले ऐय्याशी का मसाला जुटाने में हुआ। इसी से आज तक कला में केवल धनिकों के सुख दुःख का ही दिग्दर्शन होता है। जिसके विपरीत आज साम्यवाद विरोध कर रहा है।

**१४. साम्यवाद और व्यक्तिगत आजादी**—आज़ादी का कहीं यदि न्यायोचित व्यवहार हो सकता है तो वह एकमात्र "साम्यवाद" में ही—वह व्यक्तिगत हो या समष्टिगत? साम्यवाद से भिन्न सर्वत्र इसका नाम ही होगा, वस्तु नहीं! कारण साम्यवाद के अतिरिक्त सर्वत्र प्रत्येक प्राणी सम्राट् की छत्रछाया में उनके स्वर्ण सिंहासन और धनवानों की थैलियों से बंधा हुआ है। सभी व्यक्ति इनके संकेत पर विवश हो नाचते नजर आयेंगे। ये सब को खरीद कर अपनी वासना की वेदी पर बलिदान चढ़ा सकते हैं—नहीं नहीं चढ़ाते हैं। आज प्रत्येक पूंजीवादी राष्ट्र इसका ज्वलन्त उदाहरण है। जहां मुट्ठी भर लोगों को छोड़ कर कोटि २ मानव समुदाय गुलामी की जंजीर में बुरी तरह जकड़े हुए हैं। जिन्हें यह भी पता नहीं कि स्वतन्त्रता आखिर है ही क्या बला। हां! हमारे धनकुबेरों को स्वतन्त्रता ही नहीं—पूर्णस्वच्छन्दता है। यदि इस कटुसत्य तथा

पूंजीवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अवलोकन करना हो तो आइये जरा शोषण-शासन की चक्की में पिसते हुए किसान-मजदूरों के निकट, चार २ आने में अपना वोट बेचने वाले वोटरों के पास और पैसे के लिये अपनी प्रतिभा, कलम और सिद्धान्त-सम्मान पूंजीपतियों के चरण में समर्पित करने वाले लेखक, कवि, कलाकार और पत्रकारों एवं संस्थावादी-धर्माधिकारियों के निकट, जहां ये प्रभु इच्छा के विरुद्ध हिलना-डुलना तो दूर- स्वांस भी नहीं ले सकते। सभी आर्थिक शिकंजे में घृणित रूप से शृङ्खलित हैं।

पर साम्यवाद प्रत्येक व्यक्ति को सारी आज़ादी की जननी आर्थिक-आज़ादी देकर सब को सब प्रकार से मुक्त कर देता है। सब को अपने व्यक्तित्व के विकासहित समान-सुविधा, साधन, क्षेत्र और अवसर प्रदान करता है। उसके उपयोग और उपभोग का स्वातन्त्र्य अधिकार देता है। इसी को तो व्यक्तिगत आज़ादी कहते हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता तो नहीं ? यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वच्छन्द हो कर मनमाना करने लगे तो सब की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तो दूर रहे — समाज का अस्तित्व ही असम्भव हो जाय ! अतएव महर्षि के कथनानुसार सब की भलाई में ही अपनी भलाई समझना उचित है। सर्वव्यापी स्वार्थ की रक्षा और पूर्ति के लिये ही प्राणी समाज का निर्माण करता है। इस समाज में ही उसकी स्वतन्त्रता और हित है। समाज के बाहर न तो उसकी सच्ची स्वतन्त्रता ही है और न उसकी हस्ति का स्थायित्व। इस लिये साम्यवाद व्यक्तिगत-आजादी को सामाजिक आजादी के साथ सम्बद्ध कर सच्चे रूप में उसकी रक्षा और उन्नति करता है। यह कहना सर्वथा व्यर्थ है कि साम्यवाद मनुष्य को जड़ मैशीन की तरह बनाता है। सच तो यह है कि व्यक्ति स्वयं समाजरूपी मशीन का एक नैसर्गिक पुर्जा है। जिसकी उपयोगिता, आजादी और अस्तित्व अपने स्थान पर ही सम्भव है। साम्यवाद तो उनको यथायोग्य स्थान में नियोजित कर समाज के लिए व्यवहार ही करता है और उनकी जीवन शक्ति

को सफल बनाता है। अतः शक्ति के समुचित उपयोग, उपभोग और विकास का ही नाम वास्तविक स्वतन्त्रता है। इससे भिन्न उच्छृङ्खलता !

१५—साम्यवाद और राष्ट्रीयता:—साम्यवाद राष्ट्रीयता का विशुद्ध विकसित स्वरूप है। राष्ट्रीयता के मूल में सैद्धान्तिक रूप से जो भाव तत्व विद्यमान है—साम्यवाद उसका समर्थक ही नहीं करता अपितु राष्ट्रवाद से भी आगे बढ़कर उस भाव तत्व को एक नवीन आर्थिक गठन द्वारा व्यवहारिक कार्यरूप में परिणत करने का हामी है। आज वह मानव-समुदाय की सङ्कुचित देश धर्म, जातिभाषा और सांस्कृतिक-एकता को विकसित कर सर्वव्यापी स्वार्थ शृङ्खला में सम्बद्ध एवं संगठित करता है। जिससे सभी के सामूहिक हितों की रक्षा एवं उन्नति हो सके और सब एक परिवार की तरह सुख दुख के समान भागी बनें।

राष्ट्रीयता के प्रारम्भिक क्रमिक-विकास में हम इसी मूलभावना की झलक देखते हैं। इससे प्रेरित होकर मानव-समूह का भाव, रिस्ता और स्वार्थ क्रमशः सङ्कीर्ण सीमाओं को पार करता, छोटे २ दल, पञ्चायत जमींदारी, रियासत और प्रान्तों के दलदल से निकल केन्द्रीय रूप में गठित होकर "राष्ट्र" बना। उसके प्रति अपनत्व और उत्सर्ग का भाव जागृत हुआ। स्वराष्ट्र की रक्षा और उत्कर्ष के लिये पर राष्ट्र से स्पर्धा और संघर्ष हुआ। परन्तु क्या राष्ट्रीयता एक रूस के अतिरिक्त अपनी सिद्धांत साधना को कार्यरूप देने में आज तक कहीं अन्यत्र सफल हुई ? पाठक दुनिया के नक्शे पर जरा नजर दौड़ाइये ! बस !! यहीं से साम्यवाद राष्ट्रीयता को छोड़ कर आगे बढ़ जाता है।

एक तरफ तो राष्ट्रीयता का विकास एक निश्चित भौगोलिक घेरे तक जाकर रुद्ध हो गया और दूसरी तरफ इसने न तो सम्पूर्ण राष्ट्र के स्वार्थों की समानरूप से रक्षा ही की और न राष्ट्रव्यापी सामूहिक उत्थान ही। उलटे पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के सत्यरूप धारण कर मानवता का गला घोटने लगा। व्यक्तिवाद का घातक रोग किंचित् महत्परिमाण में

पुनः प्रकट हुआ। दूसरों को लूटने की लिप्सा जगी। लोलुपता के उग्र उन्माद में निर्बल देशों और उपनिवेशों को हड़प कर साम्राज्य की स्थापना हुई। पर सारे राष्ट्र की शक्ति लग कर भी इसका फल सारे राष्ट्र को समानरूप से न मिला।

राष्ट्र की आँखें खुलीं, देखा—अनातोले कह रहा है—"जनता समझती है कि वह देशहित में अपना प्राण दे रही है। पर असल में वह सेठों के हित में मर रही है"। बिगड़ी राष्ट्रीयता की पोल खुली। राष्ट्र निर्माण के प्रारम्भ से ही सत्ताधारियों का षड्यन्त्र अवगत हुआ। राष्ट्रीयता के नाम पर होने वाले युद्धों का रहस्य समझ आया। आज की राष्ट्रभक्ति का अर्थ दिखाई दिया, लुटेरों के लिये लुटेरों द्वारा अपना बलिदान! स्वदेशी के माने हैं—अपना रक्त आप निचोड़कर मिल मालिकों के मोटे तोंद में उडेल देना। छिः! यह कैसी राष्ट्रीयता है और कैसी देशभक्ति?

हम देखते हैं कि भारत के शोषण-शासन में न तो सारे इङ्गलैंड का हाथ है और न सारे को उसका समान फल ही मिलता है। इसी तरह न तो सम्पूर्ण भारतवासी ही लूटे जाते हैं और न सब को गुलामी का फल ही भोगना पड़ता है इसका फल तो उधर मुट्ठी भर सत्ताधारियों को भोगने को मिलता है और इधर समस्त अभागे किसान-मज़दूरों को। न उधर इस लूट में से गरीबों को कुछ विशेष मिलता है और न इधर भारत के पूंजीपति, जमींदार और राजाओं को लुटना ही पड़ता है। यदि भारत के सरमायादारों और इंग्लैंड के श्रमचारों को कुछ हानि लाभ है तो यही कि उनके शोषण-शासन में नाममात्र की कमी हो जाती है। यही दशा क्या गुलाम और क्या आजाद, सभी देशों की है। बस! इसीलिये एक स्वदेशी आन्दोलन में और दूसरा साम्राज्यवाद के विस्तार में सहयोग देता है। अन्यथा पूंजीपति साम्राज्य का विस्तार देश के गरीबों के लिये नहीं करते बल्कि जब घर के लूट से तृप्त नहीं होते, तब बाहर सर निकालते हैं और उसी तरह स्वदेशी आन्दोलन में

भाग लेने वाले सेठ भी ! फेनरब्रेकवे का कथन है:—"सेठ देशभक्ति को तभी तक सहन करते हैं जब तक इससे उनके मालों की खपत होती है। जब देशभक्ति से इसमें बाधा पड़ने लगती है तो वे उसे ताक पर रख देते हैं।" महासमर के समय से आज तक का देश विदेश का इतिहास इसकी स्पष्ट साक्षी है। इस भाँति स्पष्ट है कि एक देश के किसान मजदूर और गरीबों का मुकाबला दूसरे देश के पूंजीपति और सत्ताधारियों के साथ हैं। न कि एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से। आज दुनियाँ में केवल दो ही राष्ट्र है—एक गरीबों का, दूसरा अमीरों का! एक तरफ शोषक-शासक है तो दूसरी तरफ शोषित-शासित। दूसरा राष्ट्र राष्ट्र नहीं बल्कि ढोंग है—पूंजीपतियों के हथकण्डे हैं, और न दूसरी राष्ट्रीयता-राष्ट्रीयता !

आज अखिल लोक में राष्ट्रीयता को आड़ में कर भैरव निनाद हो रहा है। व्यापारियों और सत्ताधारियों के षड्यन्त्र से आधुनिक कथित राष्ट्रीयता ने ऐसी विकट परिस्थिति पैदा करदी है कि एक जाति दूसरी की खून पीने के लिये जिह्वा लपलपा रही हैं। देशभक्ति के नाम पर दूसरों की स्वाधीनता और सम्पत्ति का अपहरण-राष्ट्रीयता की विजय का लक्षण माना जाता है। यदि इस संकुचित उग्र राष्ट्रीयता के दर्शन करना हो तो हिटलर, मुसोलिनी और जापान की साम्राज्यवादी मनोवृत्तियों का अध्ययन करलें। आजकी राष्ट्रीयता ठीक धर्म की भांति घिनौनी और संकुचित बनकर व्यक्तिवाद के दायरे में आगई है। यही नहीं इसका वर्तमानरूप विश्वशान्ति के लिये खतरे का एक घण्टा है।

साम्यवाद जिस प्रकार ईश्वर धर्म और सम्प्रदायों की दुहाई देकर लूटनेवाले पूंजीवाद और साम्राज्यवाद से जनसमाजकी रक्षा करता है उसी तरह राष्ट्रीयता के नारे लगाकर शोषण करनेवाले सेठों और सत्ताधारियों से भी। जिस तरह यह सच्चे धर्म की स्थापना करता है वैसीही वास्तविक राष्ट्रीयता का भी रूप बताता है। जिसमें राष्ट्रीयता और मानवता का अभूतपूर्व मेल है और है स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र के द्वन्द

का सर्वथा अभाव ।

१६. साम्यवाद और हिंसा—हिंसा या अहिंसा साम्यवाद का कोई खास सिद्धान्त नहीं और न यह हो ही सकता है। यह तो एक साधन मात्र है। हमे अपने उद्देश्य की पूर्ति करना है चाहे जैसे भी हो। हां इस के लिये उचित से उचित साधन का प्रयोग और अच्छे से अच्छे मार्ग का अवलम्बन अवश्य करना चाहिये। साम्यवाद इसका विरोधी नहीं वह तो मनुष्य समाज में सब तरह से समता, स्वतन्त्रता और विज्ञान की स्थापना चाहता है और चाहता है पारस्परिक शोषण-शासन का एकदम समूलोच्छेदन ।

हिंसा-अहिंसा का निर्णय भी बड़ा ही कठिन है। लोग अपने २ मतलब और विचार के अनुकूल इस की परिभाषा समय २ पर करते रहे हैं। जिस से यह सैद्धान्तिक रूप में और भी उलझता गया। फिर भी प्रत्येक अवस्था में हिंसा से अहिंसा श्रेष्ठ है, महान है, अहिंसा का अर्थ यदि हम जैनियो की तरह करें तो हमें क्षण भर भी जीना दुश्वार हो जायगा। अहिंसा का तो अर्थ है—"मन वचन और कर्म से किसी का अहित न करना"। इस के विपरीत आचरण करने वाले को बाध्य कर देना कि वह दूसरों को दुःख न दे सके। यदि एक खूंखार वन्य-पशु नित दस प्राणियों का खून पी कर उनकी हत्यायें करता है, तो राजा का यह धर्म है कि वह उसको सजा देकर दस प्राणियों की रक्षा करे। उस हिंसक को दंड देना ही सच्ची अहिंसा है। साम्यवाद इसी रूप में अहिंसा को मानता है। वह असंख्य छोटे २ पौधों के रक्षणार्थ एक बड़े पौधे को ध्वंस करना अहिंसा समझता है। यही धर्मशास्त्रों का मत है। अन्यथा साम्यवाद कब पूंजीपतियों की तरह निरापराध प्राणियों के रक्त से माँ मेदिनी के अञ्चल को भिगोने का पक्षपाती है? कम से कम आज रूस का अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार ही अन्य पूंजीवादी राष्ट्रों के समक्ष प्रमाणरूप में पर्याप्त है।

फिर भी आश्चर्य है कि जो नित खुले बाजार शान्ति, सुव्यवस्था

और न्याय का ढोंग रचकर असंख्य देशभक्त और मानव प्रेमियों को शहीद बनाते हैं। बड़े २ महासमर और युद्ध ठान कर कोटि २ निरीह जन समूह के रक्त से होली खेलते हैं। क्रूर से क्रूर नर संहारक शस्त्रों का निर्माण कर असहायों की सत्ता हड़पते हैं। बलात् उनके पेट के साधन छीन कर उनमें बेकारी दरिद्रता और दुराचार फैला भूख से तड़पा कर मरने के लिये बाध्य करते हैं। वे ही साम्यवाद पर आज हिंसा का आरोप करते हैं। दिन रात हिंसा करते हुए भी अहिंसा का उपदेश देना पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का ही काम है। हमारे धर्माधिकारी भी स्वार्थवश अपनी व्यवस्थाओं द्वारा इस का समर्थन करते हैं। पाशविक–अत्याचार से उत्तेजित होकर प्रतिकारवश यदि कोई भूल कर बैठे या कि अमानुषिक बर्बरतापूर्ण व्यवहारों के विरुद्ध यदि कोई जुबान खोले तो वह पापी, राजद्रोही और अधार्मिक है। उसकी किस्मत नृशंसता की नुकीली कलम से बदल देना चाहिये। फांसी और कालापानी तो उस के लिए मामूली बात है। पर लक्ष २ असहाय मानव की दिन दिहाड़े नृशंसता पूर्वक बलिदान चढ़ाने वाले तथा स्वयं अपनी वासना तृप्ति हित उन्हें सर्वस्व उत्सर्ग करने के लिये बाध्य करनेवाले को खुली छुट्टी। एकही काम में एक की निन्दा और दूसरे की प्रशंसा, एक के कर्मों का फल कहा जाय और दूसरे के लिये पशुबल का प्रदर्शन! खूब! न्याय और धर्म की कैसी विडम्बना है?

सच तो यह है कि साम्यवाद के बिना हिंसा की भावना दब ही नहीं सकती। जब तक पूंजीवादी और साम्राज्यवादी प्रवृत्ति नष्ट नहीं होती, तब तक अहिंसा का कोरा उपदेश देना, निःशस्त्रीकरण का आडम्बर रचना और संसार को धोखा देना है। आज अहिंसा का उपदेश केवल गुलाम और उत्पीड़ितों के लिये ही है, शासक और स्वयम्भुओं के लिये नहीं। जब तक यह वैषम्य दूर नहीं होता, उस समय तक शान्ति और अहिंसा का प्रचार भारी प्रवञ्चना है॥

१७. भारतवर्ष और साम्यवाद—भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा

पद्दलित और विदेशी बनियों द्वारा बुरी तरह लूटा जा रहा है। किन्तु इसकी जड़ को खोखला करने वाले भारतीय कीट-पतङ्गों की संख्या भी कुछ कम नहीं। एक तरफ इसे मज़हब और धर्म वाले लूटते हैं तो दूसरी ओर जमींदार और सेठ-साहूकार। एक हाथ से राजे महाराजे निचोड़ते हैं तो दूसरे से अज्ञानता और परम्परागत कुरीतियाँ और इन सब के शिकार हैं अभागे नब्बे प्रतिशत किसान और मज़दूर। उफ! इस प्राचीन प्रसाद को भस्मावशेष बनाने में इसके अपने दीप क्या कम भभकते हैं। इसका उपाय तरुण भारत के हृदय सम्राट् पण्डित जवाहर लाल नेहरू के शब्दों के एकमात्र "साम्यवाद" ही है। मृतप्राय रूस को विश्व के मानचित्र पर चमकाने वाला, शोषक व्याधियों से विश्व को सतर्क करने वाला एक मात्र यह साम्यवाद ही तो है? परन्तु प्रतिक्रियावादी इसे भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलनके लिये घातक और पश्चिमीय तथा धर्म भूमि भारत के सर्वथा अनुपयुक्त कहते हैं! ऐसे ही लोग आगे चलकर स्वार्थवश हिटलर, मुसोलिनी और जनरल फ्राँको बनते हैं, जिन्हें मानवता के रक्त से होली खेलने में मज़ा आता है। पराधीन भारत में ऐसों की क्या कमी?

आज समस्त संसार पूंजीवाद और साम्राज्यवाद से आक्रांत है, इनसे छुटकारे के लिये वह छटपटा रहा है। इस पाशविक पंजे से मुक्त करने के लिये साम्यवाद सब को एक मोर्चे पर सङ्गठित होने की प्रेरणा कर रहा है। शोषक-शाशक अपने स्वार्थ सिद्धि में बाधा पड़ती देख कर फ़ेसिस्ट के रूप में संघबद्ध हो उसे कुचलने के लिये कटिबद्ध हो चुके हैं। वर्तमान विश्वक्राँति में इन्हीं दो शक्तियों का संघर्ष है।

पद्दलित भारत भी विश्व का एक अङ्ग होने के नाते संसार के खून [illegible]ने वालों में स्वाभाविक रूप से विरुद्ध हो जाता है और बृटिश साम्राज्य[illegible]द उनके पक्ष में। इस तरह भारत का मुक्ति आन्दोलन सामयिक विश्व-[illegible]ाँति का एक भाग बन जाता है, जिसे साम्यवाद और भी अधिक स्पष्ट [illegible]ौर सुदृढ़ कर जगत के सर्वहारा आन्दोलन से संयुक्त [illegible]। फिर

भला यह घातक कैसे ?

मैं मानता हूँ कि यहाँ विदेशी सरकार है, भारत पर विदेशियों का राज्य है। साम्यवाद के नाम से भड़क कर देश के पूंजीपति, जमींदार, मिलमालिक, सेठ साहूकार और सम्राट एवं धर्माचार्य सब उससे मिल जायेंगे और स्वतन्त्रता पथ पर बढ़ते हुए प्रगतिशील भारत के मार्ग में रोड़े अटकायेंगे। पर मैं पूछता हूँ चन्द उङ्गलियों पर गिने जाने वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त कितने भारत-हित के साथ ही हैं ? और अब तक पीछे ढकेलने में क्या कोर कसर ही बाकी उठा रक्खा ? जरा विगत इतिहास पर दृष्टिपात तो करें ! बुभुक्षित भारत के रक्त को चूस कर विदेशों की सैर-सपाटे और ऐय्याशी में पानी की तरह बहाना, विदेशी शासकों के संकेत पर कठपुतली की तरह नाचना तथा एक तरफ से गरीबों को लूटकर दूसरे तरफ से चन्द चाँदी के टुकड़े कुछ संस्थाओं को देकर अपने पाप को छिपाना ही तो इनकी देशभक्ति है ? यदि इससे कुछ अधिक है तो वह साम्यवाद और उनके संचालकों की निन्दा ! स्वदेशी आन्दोलन और राष्ट्रीयता तो उनके व्यापार और शोषण के साधन मात्र हैं।

'सच तो यह है कि स्वराज्य का अर्थ अङ्गरेज़ों के स्थान में भारतीयों का शोषण-शासन नहीं, और न है वह केवल मुट्ठी भर धन्नासेठों और सम्राटों के लिये। भारत में तो नब्बे प्रतिशत मजदूर और किसान बसते हैं। देश के इस दुखी अङ्ग का उद्धार ही वास्तविक अर्थों में भारतीय स्वराज्य की रूप रेखा है ! वे अपने को पढ़े लिखों की बराबर समझने लग जायें। अपने आप पर विश्वास करने लगें। उन्हें अपने विचार बनाने की सुविधा हो ! उनके पास अपनी जरूरतों और इरादों की पूर्ति के लिए सब प्रकार के साधन हों तभी भारत उन्नत होने का दावा कर सकेगा। यदि भारतीय ग्रामीण अपनी स्थिति और कर्तव्य को समझ जाएं तो उन्हें किसी की अपेक्षा नहीं करनी होगी और न ये दश प्रतिशत कुछ कर ही सकते हैं। इसके लिये तो जरूरी है कि शोषण-शासन के

मूल कारणों को स्पष्ट किया जाये, ताकि भारत कुएँ से निकल कर गढ़े में न गिरे।

आश्चर्य है कि जिन लोगों ने विदेशों से पूंजीवाद को लाकर भारत में वर्गयुद्ध का बीज बोया, बेकारी और वैषम्य फैलाया तथा जो दिन-रात श्रमकारों का अपहरण कर पाश्चात्य फैशन, विलासिता और दुर्गुणों में लिप्त हैं, वे ही इन सब रोगों की महौषधि "साम्यवाद" को पाश्चात्य कह कर इसे भारतीय संस्कृति के लिए घातक होने का ढिंढोरा पीटते हैं। शराब, फैशन की सामग्री, दवा, मैशीनरी, विदेशी कपड़े और विदेशी रहन-सहन हैट-बूट पाश्चात्य नहीं यदि कुछ विदेशी और भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल है तो वह उनकी दृष्टि में एम मात्र "साम्यवाद" ही। खूब! समझ नहीं आती कि यह अक्ल के अन्धे फूंक मार कर पर्वत उड़ाने की मूर्खता कब तक करते रहेंगे ?

कोई वस्तु ग्राह्य वा त्याज्य अपने गुणदोष के कारण हो सकती है न कि पूर्व या पश्चिमीय होने से, फिर भला साम्यवाद पाश्चात्य कैसे ? क्या वैदिक साहित्य के पद पद पर विभिन्न रूपों में इसका समर्थन नहीं किया गया है ? यह ठीक है कि दुर्भाग्यवश आज हम योरुप के प्रकाश में ही अपने घर की सम्पत्ति पहचानने के लिए आंखें उठाते हैं और आज बहुत कुछ पहचान भी रहे हैं। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि यह सम्पत्ति पाश्चात्य वालों की ही है। यदि सर्व व्यापी प्रभु ने इस युग में उन्हें भी दिया है तो यह उन का सौभाग्य है। पर भारत उनका मोहताज नहीं। भारत में तो भारतीय समाजवाद होगा जो इसकी पुरानी मौलिक सम्पत्ति है। रूस तो केवल इस का एक प्रयोग कर्त्ता है—पथ-प्रदर्शक नहीं।

खेद है कि फिर भी आये दिन गरीब भोली-भाली जनता की गाढ़ी कमाई से गुलछर्रे उड़ाने वाले, उनके रक्त सञ्चय से विलास की होली रचने वाले सत्ताधारी और पूंजीवादी आज भारतीय श्रमकारों को जाग्रतावस्था में जानकर बेचैन हो रहे हैं। वे पीड़ित, प्रता-

ड़ित गरीबों की तीव्र प्रगति को पलटने के लिये नित-नये मंसूबे बांधते हैं। नवीन सभा-सुसाइटियों का सङ्गठन जिमींदार, महाजनों का पृष्ठपोषण, साम-दाम-दण्ड और भेद नीति का अवलम्बन, इनके आये दिन के करिश्मे हैं। परिस्थिति की संकरा गैल में चांदी बिछाकर त्यागियों को रपटते देखकर अपनी मनोकामना को पूरी करने की कल्पना, इनका एक साधारण मनोरञ्जन है। यही नहीं राष्ट्रीयता, साम्यवाद और उसके निस्पृह सेवकों को पानी पी-पी कर कोसना और लाञ्छित करना भी इनके कलुषित जीवन की दिनचर्या का एक अङ्ग है। किन्तु इन अल्प-संख्यक देशद्रोहियों की काली करतूतों से हमें हताश होने की आवश्यकता नहीं—सुरसरि किसके कीचड़ उछालने से गन्दी हुई है—

मुँह पर पड़ा उसी के जिसने फलक पै थूका!

# वेद और साम्यवाद

का

# सन्देश

अराथि काणे विकटे गिरिंगच्छ सदान्वे ।
शिरि विठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि ॥
ऋ० १०।१५५।१

हे धनहीन, कुरूप संकटमयी सदा अक्रोश करने वाली दरिद्रते ! अपने साथियों सहित निर्जन पर्वत पर भाग ! अन्यथा वज्र के समान दृढ़ अन्तःकरण वाले ( साम्यवादी ) मनुष्यों के उन प्रसिद्ध वीर्य्य पराक्रम के द्वारा हम तेरा नाश कर देंगे ।

दार्शनिक रहस्य—दुनिये में मनुष्य के सम्मुख प्रायः दो प्रकार की समस्यायें सदा उपस्थित रहती हैं, एक तो प्रत्यक्ष जिन वह इन्द्रियों द्वारा समझ पाता है और दूसरा इन्द्रियों से परे परोक्ष, जिसे वह अनुमान द्वारा जानता है । प्रथम का हल विज्ञान द्वारा होती है और दूसरे का दर्शन द्वारा । विज्ञान जिन समस्याओं को समाधान करने में असमर्थ होता है, दर्शन उसी को हल करने में हाथ बढ़ाता है । इनी से एक प्रत्यक्ष के सहारे कार्य करता है द्वितीय प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान के सहारे । एक से भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है दूसरे स बौद्धिक अशान्ति का परिशमन । इस प्रकार मानव-जीवन में विज्ञान के बाद ही दर्शन की आवश्यकता एव स्थान है और वह भी विज्ञान के अनुकूल, विरुद्ध नहीं । कारण प्रत्यक्ष विज्ञान के आधार पर ही अनुमान द्वारा दर्शन का निर्माण होता है ।

मनुष्य समाज में जब तक विज्ञान और दर्शन का सामञ्जस्य रहा तब तक तो वह खूब फलता-फूलता रहा ! परन्तु जब से विज्ञान विनष्ट

हुआ और मनुष्य उक्त रीति के विपरीत चलने लगा। तब से दर्शन का दुरुपयोग आरम्भ हुआ और भारत में तो खूब ही हुआ है। पहले दर्शन मनुष्य के लिये था पश्चात् मनुष्य दर्शन के लिये हुआ। जहां प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों का अनुसंधान होता था वहाँ दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुकूल प्रत्यक्ष की व्यवस्था बनने लगा। फिर समाज एवं जीवन म विशृङ्खलता तो फैलना ही हुआ और दार्शनिक सिद्धान्तों का स्वार्थान्ध व्यक्तियों द्वारा दुरुपयोग-अनिवार्य ही है। संसार में सवत्र यही दिखाई देता है। भारत में भी पुनर्जन्म, कर्मफल और भाग्यवाद आदि दार्शनिक सिद्धान्तों की वही दशा हुई। जो हमारे वर्तमान जीवन एव समाज में उत्साह और कर्मण्यता प्रदान करने वाले थे, उन्नति में सहायता और अन्याय के प्रति भय देने वाले थे, वही आज हमारे पतन के कारण और उत्थान में सब से बड़ा बाधक हो रहे हैं। गरीबों पर मनमाना अत्याचार करने के साधन और पद-दलितों की दासता को स्थायी बनाने में सब से बड़े—सहायक हो रहे हैं। यही कारण है कि भारतीय किसान मजदूरों पर नित्य प्रति अमानुषिक अत्याचार होते हुए भी उनमें उससे मुक्त होने की भावना नहीं उठती और भारतीय सत्ताधारी इससे खूब लाभ उठा रहे हैं।

जिधर भी नजर उठाइये सर्वत्र दुःख आदि के प्रत्यक्ष कारणों को रहते हुए भी "खुदा की मर्जी और भाग्य का खेल एवं पूर्वकर्मों का फल" यही दिखाई देता है। पता नहीं इन्हीं को खुदा अपनी मर्जी बताने आता है अथवा इन्हें ही कर्मफल और भाग्य की सूचना मिलती है या और देश वालों को भी? पूर्वजन्म के किन कर्मों का फल हम क्या भोग रहे हैं—कब तक भोगेंगे अथवा यह पूर्व कर्मों का ही फल है—इसे कौन दावा के साथ कह सकता है? किसके पास अनुमान के अतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रमाण है? और क्या हम प्रायः अज्ञानतावश प्रत्यक्ष कारणों को भूल कर अनुमान करना प्रारम्भ नहीं कर देते? इस तरह विज्ञान को भूल कर दर्शन के पीछे मरना मूर्खता नहीं तो क्या है?

उचित तो यह है कि यथाशक्ति विज्ञान और पुरुषार्थ के साथ आगे बढ़ते चले जहां इनका प्रवेश सर्वथा रुद्ध हो जाय तब वहां से दर्शन और भाग्य का सहारा ले—न कि आरम्भ से ही। परन्तु आज तो हर बात पर कर्मफल और भाग्य २ चिल्लाते फिरते हैं। वेश्या के यहां जाकर व्यभिचार करें जब गर्मी आदि बीमारियों से पीड़ित हों तो कहे भाग्य में यही था, पूर्वकर्मों का फल तो भोगना ही होगा इत्यादि। खूब !

इतना ही नहीं अपितु प्रत्यक्ष से सम्बन्धित मनुष्य के कर्मों के अनेक भेद हैं यथा - परम्परागत पैतृक कर्म, सामाजिक कर्म, तथा वैय-क्तिक आदि। हम किसी दुःख के कारण को ढूँढते समय केवल वैयक्तिक तक ही जा पाते हैं और वहाँ से समुचित समाधान न होने पर झट ईश्वर और भाग्य की दुहाई देने लगते हैं। पर इस बात को सर्वथा भूल जाते हैं कि हमारा जीवन एक पैतृक और सामाजिक भी है। जिसके कर्मों का फल हमें भोगने को मिलता है। इन तीनों जीवन के समूह को ही हम पूर्ण मनुष्य जीवन कह सकते हैं या यों कहें कि इन तीनों से ही मानव-जीवन का निर्माण होता है।

यदि मनुष्य इन तीन कर्मों का अनुसंधान कर के फिर अनुमान की ओर जाय तो संसार में उसकी समस्यायें इतनी न उलझे और न वह, इतना कष्ट ही उठाये। फिर तो वह भाग्य के भरोसे न तो पड़ा ही रहे और न विचारे ईश्वर के मत्थे ही अपना पाप मढ़े। तब तो वह उन कारणों को दृढ़ता के साथ दूर करने लगे जिससे उससे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को कष्ट भोगना पड़ता है।

एक बात और, दर्शन वस्तुतः अन्धानुकरण की वस्तु नहीं। कारण, दार्शनिक विचारों में मतभेद का होना अनिवार्य है। यह अनुमान द्वारा जाना जाता है और अनुमान का आधार है प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष देश, काल और परिस्थिति भेद से अनेक है फिर अनुमान में तो भेद होना ही हुआ। संसार के दार्शनिकों में मतभेद होने का यही एक मात्र कारण है। इसी से प्राचीन ऋषियों ने प्रत्यक्ष-जीवन एवं व्यवस्था की उपेक्षा

कर दार्शनिक सिद्धान्तों के कोरा मानने-मनवाने पर विशेष जोर नहीं दिया। वैदिक समाज के सदस्य सर्व हितकारी प्रत्यक्ष नियमों को पालते हुए इस विषय में स्वतंत्र थे।

आज दुनिया में दार्शनिक मतभेदों के कारण ही प्रायः मनुष्य समाज अनेक साम्प्रदायिक विभागों में बट कर एक दूसरे के खून का प्यासा हो रहा है— कम से कम भारत में तो दार्शनिक मतभेद के कारण ही नृशंसता का नग्न तांडव-नृत्य नित्य-प्रति होती है और यही भारत की गुलामी का प्रधान कारण भी है। चाहे इसे ईश्वर का वरदान कहे या अपने बेवकूफी का फल ? जब तक परोक्ष को आज एक तरफ रख कर प्रत्यक्ष को सुधारा नहीं जाता तब तक हमारा कल्याण नहीं ! परोक्ष की आशा में प्रत्यक्ष को नरक बनाना अवैदिकता और घोर मूर्खता है।

अत: आर्य बन्धुओ ! व्याख्यान और बातों का समय बहुत पीछे रह गया ! जनता की निगाह आज तलवार की धार से भी अधिक तीव्र-तर बन चुकी है। जागृति की भेरी-नाद विश्व के कोने कोने से सुनाई दे रहा है। अब दूसरों को भुलावे के चक्कर में डाल कर अपना उल्लु सीधा करने का प्रयास बालू की दीवार बनाने से कम उपहास्यास्पद नहीं। अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति को, समाज को, अपने असली रूप में प्रकट होकर ही काम करना कल्याण कर है। सीधे मार्ग पर बढ़ने के लिये संख्या बल की जरूरत नहीं। उस रास्ते पर केवल आदर्श बल द्वारा ही आप सफल मनोरथ बन सकते हैं, आदर्श बल और त्याग-तपस्या की भावना से ही प्राप्त किया जा सकता है। यही वैदिक समाजवाद का मूलादर्श है। ईश्वर और भाग्य के भरोसे पर अकर्मण्य बन कर बैठना, हाथ पर हाथ रख कर अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करना, ईश्वर और धर्म की अवहेलना है।

अपने भारतीय साम्यवादियों से भी चलते-चलाते कुछ कह देना उचित समझता हूँ ! बात-बात में, पद-पद पर पश्चिम का अन्धानुकरण प्रगति का नहीं, प्रत्युत पतन का परिचायक है। अनुकरण का अर्थ है उन्नति की ओर

अग्रसर होने का भगीरथ प्रयत्न । अन्धानुकरण तो कोरी नकल है । इस के द्वारा मानवी-शक्तियों का विकास न होकर मनुष्य कोरा नक्काल बन जाता है । केवल पूंजीपतियों को पानी-पी-पीकर कोसने, धर्म और ईश्वर के विरुद्ध नास्तिकता का प्रचार करने से साम्यवाद का प्रसार न होगा ! पाश्चात्य जगत के सीमेन्ट और रोड़ों से भारत भूमि पर समता का भव्य भवन न बन सकेगा और न ही रूसी-पोशाक पहन कर कोई प्रचारक जनता के हृदय में घर ही बना सकेगा ! यहाँ तो वैदिक समाजवाद का प्रासाद बनाने के लिये आप को हिमालय की ही भीमकाय शिलाओं का व्यवहार करना पड़ेगा । जनता को जाग्रत करने के लिये लंगोटी लगा कर त्याग और बलिदान के पथ पर अग्रसर होकर अध्यात्मिकता और भौतिकता में सामञ्जस्य विधान करना होगा । भय का बिगुल नहीं, मोहन की मोहब्बत भरी मुरली को मुंह लगा कर सत्य और समता का स्वर अलापना होगा । जब सत्य ही साधन, अहिंसा ही अस्त्र और प्रेम की प्रणाली द्वारा समस्त संसार का उपकार ही तुम्हारा ध्येय है, तब तुम्हें क्या भय कि तुम्हारे विरोधियों की शक्ति और संख्या कितनी है !

अस्तु भारतीय यौवन के प्रतिनिधियों ! देश और जाति के कामना केन्द्र नौजवानो !! जाग जाओ, जीवन और जागृति के क्षेत्र में ससार तुम से बहुत आगे निकल गया है, वे आगे दौड़ रहे हैं और तुम तोड़ रहे हो अगड़ाइयाँ ! नीति और धुन के पक्के युवको उठो, फरेब का शीशा तोड़ दो, विषमता का गला घोंट दो और दासता को दफना दो ! वैदिक समाजवाद का मूल मन्त्र और आधुनिक युग का यही सन्देश है ।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥ अथर्ववेद ॥

हे ज्ञान के स्वामिन् ! उठ !! सत्कर्म एवं पुरुषार्थ द्वारा विद्वानों में जागृति उत्पन्न कर । आयु, जीवन, संतति, पशु पालन, कीर्ति, और सत्कर्म करने वाले साम्यवादी क्रान्तिकारियों का बल बढ़ाओ !

* इति शम् *